वैष्णव भक्ति आन्दोलन का अध्ययन

डॉ० मलिक मोहम्मद
एम० ए०, एल-एल० बी०, पी-एच० डी०,
डी० लिट्०, एफ० आर० ए० एस० (लंदन)



राजपाल एण्ड सन्ज़, कश्मीरी गेट, दिल्ली

मूल्य : तीस रुपये

पहला संस्करण 1971;
रूपाभ प्रिंटर्स, शाहदरा, दिल्ली, में मुद्रित
VAISHNAVA BHAKTI ANDOLAN KA ADHYAYAN
(Thesis) by Dr. Malik Mohammad

Rs. 30 00

प्राक्कथन

भारतीय भक्ति-आंदोलन का बहुत ही महत्त्वपूर्ण विस्तृत इतिहास है। भारतीय भाषाओं में मध्य युग में जो विपुल भक्ति-साहित्य निर्मित हुआ है वह भक्ति-आंदोलन की महती देन है। वैदिक काल से लेकर भक्ति-आंदोलन के काल तक भक्ति-भावना का विकास कई अवस्थाओं में हुआ है। आज वैष्णव भक्ति का जो स्वरूप है, वह बहुत-कुछ उस वैष्णव भक्ति-आंदोलन का परिणाम है, जिसका नेतृत्व तमिल-प्रदेश के वैष्णव भक्त आलवारों ने ईसा की छठी शताब्दी से नवीं शताब्दी तक किया था। आलवारोत्तर काल में अर्थात् मध्ययुगमें वैष्णव भक्ति-आंदोलन उत्तरोत्तर प्रबल होकर एक व्यापक जन-आंदोलन बन गया। वैष्णव-भक्ति आंदोलन के प्रेरक आकर्षक तत्त्वों ने ही मध्य युग में भक्ति-आंदोलन को लोकप्रिय और देशव्यापी रूप प्रदान कर भक्तिमय वातावरण का सृजन किया, जिसके फलस्वरूप हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में मध्य युग में विशाल वैष्णव भक्ति-साहित्य का प्रणयन हुआ। हिन्दी वैष्णव भक्ति-साहित्य के प्रेरणा-स्रोतों पर सम्यक् प्रकाश डालने के लिए हिन्दी-प्रदेश के वैष्णव भक्ति-आंदोलन के व्यापक रूप का परिचय अत्यन्त आवश्यक है। चूंकि हिन्दी-प्रदेश के वैष्णव भक्ति-आंदोलन का पूर्वापर सम्बन्ध दक्षिण में उदित वैष्णव भक्ति-आंदोलन से है, अतः हिन्दी के वैष्णवभक्ति-साहित्य के उचित मूल्यांकन के लिए एक विस्तृत कलेवर में वैष्णव भक्ति-आंदोलन का अध्ययन नितान्त आवश्यक है। अब तक प्रकाशित हिन्दी-ग्रंथों में वैष्णव भक्ति-आंदोलन का सम्पूर्ण (अखण्डित) चित्र सामने नहीं आया है। कारण यह रहा है कि यद्यपि विद्वानों ने सर्वसम्मति से वैष्णव भक्ति-आंदोलन का प्रारम्भ दक्षिण के आलवार भक्तों से माना है, तो भी आवश्यक मात्रा में तमिल के आलवार सन्तों के भक्ति-साहित्य के उचित मूल्यांकन के अभाव में वैष्णव भक्ति-आंदोलन का संतुलित इतिहास सामने आ नहीं सका है। अतः हिन्दी के वैष्णव भक्ति-साहित्य के सम्यक् अध्ययन के लिए वैष्णव भक्ति-आंदोलन का संतुलित इतिहास अपेक्षित रह गया। प्रस्तुत लेखक की यह निश्चित मान्यता है कि हिन्दी वैष्णव भक्ति-साहित्य का अध्ययन तभी सर्वांगीण हो सकता है, जब कि अन्य भारतीय भाषाओं के भक्ति-साहित्यों के सन्दर्भ में उसका अनुशीलन और मूल्यांकन किया जाए। हिन्दी के मध्ययुगीन

वैष्णव भक्ति-साहित्य के सम्बन्ध में तो यह व्यापक दृष्टिकोण बहुत ही अनिवार्य है।

वैष्णव भक्ति-भावना के उद्भव से लेकर विकास के विभिन्न सोपानों एवं अवस्थाओं का परिचय देते हुए मध्ययुगीन वैष्णव भक्ति-आन्दोलन के व्यापक और लोकप्रिय रूप का एक पूर्ण चित्र हिन्दी तथा तमिल भक्ति-साहित्यों के आधार पर देना ही प्रस्तुत अध्ययन का उद्देश्य है। हिन्दी-प्रदेश के वैष्णव भक्ति-आंदोलन का तमिल-प्रदेश के आलवारों से संचालित वैष्णव भक्ति-आंदोलन के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण से तो तमिल और हिन्दी भक्ति-साहित्यों के आधार पर वैष्णव भक्ति-आंदोलन का अध्ययन श्रेयस्कर और महत्त्वपूर्ण समझा गया है। प्रस्तुत लेखक का मत है कि हिन्दी वैष्णव भक्ति-साहित्य के प्रेरणा-स्रोतों पर तटस्थ और व्यापक दृष्टिकोण से प्रकाश डालकर वैष्णव भक्ति-आन्दोलन के इतिहास को विस्तृत फलक पर सन्तुलित रूप में प्रदर्शित करने की आवश्यकता रह गई है। नवीन सामग्री का निर्वाह करके पूर्व स्थापित मतों का पुनरनुशीलन कर सतुलित रूप में वैष्णव भक्ति-आंदोलन का समग्र रूप उपस्थित करने वाला अध्ययन अपेक्षित रह गया है, जो हिन्दी वैष्णव भक्ति-साहित्य के सही मूल्यांकन के लिए परमावश्यक है। प्रस्तुत अध्ययन इस दिशा में एक नवीन प्रयास मात्र है।

लेखक ने इस ग्रन्थ के प्रणयन के लगभग सात-आठ वर्ष पूर्व '१६वीं शती के हिन्दी कृष्णभक्ति-साहित्य पर आलवारों का प्रभाव' शीर्षक पर एक शोध प्रबन्ध प्रस्तुत कर हिन्दी में पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त की थी। लेखक का शोध प्रबन्ध 'आलवारों का तमिल-प्रबन्धम् और हिन्दी कृष्ण-काव्य' के नाम से प्रकाशित हुआ था, जिसका हिन्दी जगत् ने बड़ा स्वागत किया है। उक्त ग्रंथ में पहली बार हिन्दी जगत् को तमिल-प्रदेश के आलवार भक्तों के 'प्रबन्धम्' का विस्तृत परिचय देकर दक्षिण के वैष्णव भक्ति-आंदोलन के व्यापक रूप की ओर संकेत मात्र किया गया है। तभी से प्रस्तुत लेखक को तमिल तथा हिन्दी भक्ति-साहित्य के आधार पर उपलब्ध नवीन सामग्री का समावेश कर सतुलित और व्यापक दृष्टिकोण से वैष्णव भक्ति-आंदोलन का विस्तृत अध्ययन हिन्दी जगत् को देने की प्रेरणा हुई। इस प्रेरणा के फलस्वरूप पिछले पाच वर्षों के निरन्तर परिश्रम और अनवरत अध्ययन के उपरान्त प्रस्तुत ग्रन्थ तैयार हो सका है।

प्रस्तुत ग्रन्थ को दस अध्यायों में विभक्त किया गया है। *'विषय का सीमा-निर्धारण'* शीर्षक *प्रथम अध्याय में वैष्णव भक्ति-भावना के क्रमिक विकास* की अनेक अवस्थाओं की ओर सकेत करके वैष्णव भक्ति-आंदोलन के समय तक की वैष्णव भक्ति के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है और 'आंदोलन' शब्द को सार्थक सिद्ध किया गया है। वैष्णव भक्ति-आंदोलन के विभिन्न सोपानों का परिचय देकर मध्ययुगीन वैष्णव भक्ति-आंदोलन के लोकप्रिय रूप की चर्चा की गई है और नवीन उपलब्ध सामग्री के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत अध्ययन की सीमा और उपलब्धि की ओर सकेत किया गया है।

द्वितीय अध्याय में वैदिक युग से लेकर भक्ति-आन्दोलन तक के काल में

वैष्णव भक्ति-भावना के क्रमिक विकास के विभिन्न सोपानों का विस्तृत परिचय दिया गया है। इसी अध्याय में प्राचीन तमिल भक्ति-साहित्य के आधार पर तमिल-प्रदेश की वैष्णव भक्ति-धारा का अनुशीलन कर वैष्णव भक्ति-भावना के विकास में तथा गोपालकृष्ण और राधा के व्यक्तित्व-विकास में तमिल-प्रदेश के महत्त्वपूर्ण योगदान का शोधपरक दृष्टिकोण से विवेचन किया गया है।

तृतीय अध्याय में तमिल-प्रदेश के वैष्णव भक्ति-आन्दोलन को जन्म देने वाली सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक परिस्थितियों का परिचय देकर वैष्णव भक्ति-आन्दोलन को व्यापक जन-आन्दोलन का रूप प्रदान करने वाले प्रेरक तत्त्वों की समीक्षा की गई है। इस वैष्णव भक्ति-आंदोलन का नेतृत्व करने वाले आलवारों के विशिष्ट योगदान पर भी प्रकाश डाला गया है। वैष्णव भक्त आलवारों तथा शैव सन्त नायनमारों की कृतियों का भी परिचय दिया गया है, जिनकी भक्ति-आन्दोलन को महत्त्वपूर्ण देन रही है।

मध्ययुगीन वैष्णव भक्ति-आंदोलन के प्रमुख प्रेरणा-स्रोत के रूप में आलवार कृत 'प्रबन्धम्' का अध्ययन चतुर्थ अध्याय में किया गया है। सामान्य रूप से मध्ययुगीन भक्ति-साहित्य को प्रभावित करने वाले 'प्रबन्धम्' के तत्त्वों की चर्चा करके मध्ययुगीन कृष्ण-भक्ति काव्य को प्रभावित करने वाले 'प्रबन्धम्' विशिष्ट तत्त्वों का अनुशीलन किया गया है। वैष्णव भक्ति-आंदोलन के संदर्भ में प्रबन्धम् के व्यापक प्रभाव को प्रकाश में लाने की दृष्टि से विविध वैष्णव भक्ति-सम्प्रदायों तथा विविध क्षेत्रों पर पड़े प्रबन्धम् के प्रभाव की ओर संकेत किया गया है।

पंचम अध्याय में आलवारोत्तर काल में तमिल-प्रदेश के वैष्णव भक्ति-आंदोलन का सम्यक् परिचय दिया गया है। आलवारों के बाद के आचार्य युग में आलवारों की विचारधारा का अनुसरण कर श्री सम्प्रदाय तथा विशिष्टाद्वैती विचारधारा को पुष्ट करने वाले तमिल-प्रदेश के श्री वैष्णव आचार्यों की परम्परा का विस्तृत परिचय देकर, आलवारोत्तर काल के तमिल-प्रदेश के वैष्णव भक्ति-आन्दोलन के व्यापक रूप को दर्शाया गया है।

षष्ठ अध्याय में मध्ययुगीन वैष्णव भक्ति-आन्दोलन के दूसरे प्रमुख स्रोत श्रीमद्भागवत का अध्ययन वैष्णव भक्ति-आन्दोलन की दृष्टि से किया गया है। 'भागवत' के रचना-काल तथा रचना-स्थल की चर्चा करते हुए विचार-साम्य की दृष्टि से 'प्रबन्धम्' से 'भागवत' की तुलना की गई है और 'भागवत' के वर्तमान रूप को 'प्रबन्धम्' से प्रभावित मानने की ओर संकेत किया गया है। सामान्य रूप से मध्ययुगीन भक्ति-आंदोलन को प्रभावित करने वाले तत्त्वों की चर्चा करके, विशेष रूप से मध्ययुगीन कृष्णभक्ति-साहित्य को प्रभावित करने वाले भागवत के विशिष्ट तत्त्वों का विवेचन किया गया है। मध्ययुगीन वैष्णव भक्ति-आन्दोलन के सन्दर्भ में भागवत के महत्त्व को स्पष्ट करने के लिए विविध वैष्णव सम्प्रदायों और विविध भारतीय भाषाओं के वैष्णव भक्ति-साहित्य पर पड़े 'भागवत' के व्यापक प्रभाव का सम्यक् विवरण दिया गया है।

सप्तम अध्याय में हिन्दी-प्रदेश के वैष्णव भक्ति-आंदोलन की पृष्ठभूमि

प्रस्तुत की गई है। राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक परिस्थितियों की चर्चा करने के उपरान्त हिन्दी-प्रदेश के वैष्णव भक्ति-आन्दोलन को जन्म देने मे दक्षिण के वैष्णव भक्ति-आदोलन के योगदान पर प्रकाश डाला गया है। इसी अध्याय मे हिन्दी-प्रदेश के वैष्णव भक्ति-आंदोलन का नेतृत्व कर उसे व्यापक जन-आदोलन का रूप देने मे तथा दक्षिण और उत्तर के वैष्णव भक्ति-आदोलनों के बीच सेतु का कार्य करने मे श्री रामानन्द के महत्त्वपूर्ण योगदान का परिचय दिया गया है। हिन्दी-प्रदेश के वैष्णव भक्ति-आदोलनों के तीन सोपानों की चर्चा करके मधुर भक्ति की लोकप्रियता की आधार-भूमि प्रस्तुत की गई है।

अष्टम अध्याय मे हिन्दी-प्रदेश के वैष्णव भक्ति-आदोलन के विविध क्षेत्रों पर पड़े व्यापक प्रभाव का अध्ययन किया गया है। प्रमुखतः विविध कलाओ के विकास मे और हिन्दी मे विपुल मात्रा मे वैष्णव भक्ति-काव्य के निर्माण को प्रोत्साहन देने मे वैष्णव भक्ति-आन्दोलन की उपलब्धियो का उल्लेख किया गया है। वैष्णव भक्ति-आदोलन के फलस्वरूप निर्मित हिन्दी वैष्णव भक्ति-काव्य की राम-भक्ति और कृष्ण-भक्ति-धाराओ के प्रमुख कवियो और उनकी कृतियो का सक्षिप्त परिचय दिया गया है। वैष्णव भक्ति-आंदोलन को व्यापक रूप देने मे हिन्दी-प्रदेश के वैष्णव संप्रदायो के महान् योगदान की ओर सकेत किया गया है।

नवम अध्याय मे हिन्दी-प्रदेश के वैष्णव भक्ति-आदोलन पर पडे श्री सम्प्रदाय के प्रभाव को स्पष्ट करने का प्रयत्न हुआ है। आलवारो की विचारधारा की आधार-भूमि पर स्थापित श्री सम्प्रदाय और विशिष्टाद्वैतवादी विचारधारा ने सामान्य रूप से हिन्दी-प्रदेश के वैष्णव भक्ति-आंदोलन पर जो प्रभाव डाला है, उसको हिन्दी वैष्णव भक्ति-साहित्य के माध्यम से प्रदर्शित कराने का प्रयास इस अध्याय मे हुआ है। 'उपसंहार' शीर्षक दशम अध्याय मे प्रस्तुत अध्ययन के फलस्वरूप उपलब्ध नवीन मान्यताओ की ओर सकेत करने के साथ ही साथ भावात्मक एकता के क्षेत्र मे तथा भारतीय सस्कृति को वैष्णव भक्ति-आदोलन की महती देन पर प्रकाश डाला गया है।

प्रस्तुत अध्ययन के लिए लेखक को प्रेरणा और प्रोत्साहन देने का श्रेय लेखक के पूर्व ग्रंथ को और हिन्दी के विद्वान् स्नेही आचार्यों को है। उत्तर प्रदेश सरकार तथा बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् ने लेखक के पूर्व ग्रथ को पुरस्कृत करके और अखिल भारतीय तमिल लेखक-सघ ने भावात्मक एकता की दिशा मे लेखक की उपलब्धि पर लेखक को सम्मानित कर उसे प्रोत्साहन दिया है। तमिल तथा हिन्दी साहित्य के सभी अधिकारी विद्वान् तथा विशेषज्ञों से लेखक को प्रस्तुत शोध-ग्रंथ के प्रणयन में परामर्श और निर्देशन प्राप्त हुआ है। उन सबके प्रति लेखक हृदय से आभारी है।

शोध-कार्य-काल मे लेखक ने अनेक प्रमुख केन्द्रो की यात्रा कर विस्तृत सामग्री का संकलन किया है। विशेष रूप से मद्रास के दो प्रमुख पुस्तकालयो (कन्निमारा तथा मद्रास विश्वविद्यालय) से तथा केरल, अलीगढ, इलाहाबाद

और आगरा विश्वविद्यालयों के पुस्तकालयों से लेखक के प्रस्तुत अध्ययन की सामग्री संकलित हुई है। उन पुस्तकालयों के अध्यक्षों का लेखक आभारी है, जिन्होंने लेखक को सामग्री-संकलन में काफी मदद पहुंचाई है। तमिल, हिन्दी, संस्कृत तथा अंग्रेज़ी के जिन-जिन ग्रंथों से लेखक ने सहायता ली है, उनमे से बहुतों के नाम पाद-टिप्पणी में दिए गए हैं और अन्य प्रमुख विद्वानों और उनके ग्रंथों के नाम परिशिष्ट में दिए गए हैं। इस अवसर पर लेखक उन सभी विद्वानों का सादर कृतज्ञतापूर्ण स्मरण करता है जिनके ग्रंथों से लेखक ने अपने अध्ययन में प्रेरणा एवं सहायता प्राप्त की है।

लेखक की अपनी कुछ सीमाएं भी रही हैं। मूलतः लेखक तमिल-भाषी है। उसे हिन्दी-प्रदेश में लगभग दस वर्ष रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। फिर भी अहिन्दी भाषी होने के कारण अपने विचारों की सूक्ष्म और सशक्त अभिव्यक्ति के लिए कहीं-कहीं उसे कठिनाई का अनुभव हुआ है। प्रस्तुत अध्ययन में लेखक ने तटस्थ शोधपरक दृष्टिकोण को ही प्राथमिकता दी है। विशेषकर 'भागवत' के वर्तमान रूप को 'प्रबन्धम्' से प्रभावित मानने में लेखक का तटस्थ शोधपरक दृष्टिकोण ही परिलक्षित है। भक्तों की मान्यता को चोट पहुंचाना, किसी साहित्य को छोटा या बड़ा दिखाना लेखक का उद्देश्य कदापि नहीं रहा है। यह आवश्यक भी नहीं कि लेखक के निष्कर्ष सर्वमान्य हों। लेखक के इस अध्ययन के द्वारा भारतीय वैष्णव भक्ति-आंदोलन का संतुलित और पूर्ण चित्र प्रकाश में आएगा। लेखक के द्वारा तमिल तथा हिन्दी-साहित्य के आधार पर वैष्णव भक्ति-आंदोलन का अध्ययन प्रस्तुत होने के कारण तमिल तथा हिन्दी भक्ति-साहित्य पर तुलनात्मक दृष्टि डालने से दोनों में उपलब्ध भावात्मक एकता के दर्शन किए जा सकेंगे। इस प्रकार दक्षिण की प्रमुख भाषा तमिल और उत्तर की प्रमुख भाषा हिन्दी के भक्ति-साहित्य को निकट लाने की दृष्टि से यह प्रयास उचित ही माना जाएगा।

प्रस्तुत ग्रंथ अनेक दृष्टियों से मौलिक है। वैष्णव भक्ति-भावना के क्रमिक विकास की विविध अवस्थाओं का परिचय देकर तमिल-प्रदेश के योगदान पर लेखक ने जो मान्यताएं व्यक्त की है, वे मौलिक हैं। पूरे ग्रंथ में शोधपरक दृष्टिकोण को रखा गया है। मध्ययुगीन वैष्णव भक्ति-आंदोलन के दो प्रमुख प्रेरणा-स्रोतों के रूप में 'प्रबन्धम्' तथा 'भागवत' के तत्वों का परिचय देकर दोनों ग्रंथों में उपलब्ध विचार-साम्य को प्रदर्शित करने का जो कार्य इस प्रबन्ध में हुआ है, वह एकदम मौलिक प्रयत्न ही है। वास्तव में तमिल या हिन्दी में वैष्णव भक्ति-आंदोलन के संतुलित और पूर्ण चित्र को देने का प्रयास अब तक नहीं हुआ है। अतः इस दिशा में लेखक का यह अध्ययन मौलिक प्रयास है। हिन्दी-प्रदेश के भक्ति-आंदोलन के तीन विकास-सोपानों का परिचय देकर उनकी आधारभूमि की जो चर्चा नवीन उपलब्ध सामग्री के आधार पर की गई है, वह भी मौलिक दृष्टिकोण है।

प्रस्तुत अध्ययन तमिल तथा हिन्दी वैष्णव भक्ति-साहित्यों में लेखक की

विशेष रुचि का परिणाम है। वैष्णव भावना ने लेखक को बहुत ही प्रभावित किया है और उसके वैयक्तिक जीवन-आदर्शों को भी प्रभावित किया है। यही इस अध्ययन के प्रणयन मे लेखक की आस्था का रहस्य है। वैष्णव भावना के विषय में नरसी मेहता के 'वैष्णव जण तो तेणें कहिए, जे पीर पराई जाणें रे'। शब्दों मे व्यक्त व्यापक उदार दृष्टिकोण तथा सेवा-भाव को ही लेखक ने जीवन का आदर्श माना है।

—मलिक मोहम्मद

रीडर, हिन्दी विभाग,
केरल विश्वविद्यालय
एर्नाकुलम्,कोचीन

अनुक्रमणिका

चतुर्थ अध्याय

पंचम अध्याय

प्रथम अध्याय

विषय का सीमा-निर्धारण

भारतीय धर्म-साधना में भक्ति-मार्ग का अपना विशिष्टधार्मिक, साहित्यिक, सामाजिक और सांस्कृतिक महत्त्व रहा है। यही वह मार्ग है जिसने सर्वप्रथम व्यापक रूप से समाज के संपूर्ण अंग को प्रभावित किया और एक बहुत ही लंबी अवधि तक उसका पथ-प्रदर्शन करते हुए स्थायी मोड़ दिया। इसे साहित्यकारों, समाजसेवियों और धर्माधिकारियों का समान रूप से सहयोग प्राप्त होता रहा है। भारतीय संस्कृति को जितना अधिक इस भक्ति-मार्ग ने प्रभावित किया है, उतना कोई दूसरा स्रोत कर नहीं सका।

भक्ति-भावना के उद्‌भव और विकास का इतिहास काफी लंबा है। वैष्णव भक्ति-भावना उद्‌भव की स्थिति से लेकर विकास के विभिन्न सोपानों एवं अवस्थाओं को पारकर वर्तमान रूप को प्राप्त कर सकी है। वैदिक युग के कर्म-मार्ग की अनुपयुक्तता और उपनिषद्-युग के ज्ञान-मार्ग की दुरूहता के समक्ष परवर्ती युग के भक्ति-मार्ग की उपयुक्तता एवं सरलता ने बहुमत प्राप्त किया और भक्ति-साधना को लोकप्रिय बना दिया। वैसे वैष्णव भक्ति का उद्‌भव कुछ विद्वान् वैदिक युग से मानते हैं। परन्तु जिस भावमूलक भक्ति का स्वरूप अब हमारे सामने है, उसके दर्शन वेदों में नहीं होते। वैदिक युग प्रधानतः यज्ञीय-कर्म-काण्ड का युग था। उपनिषद्-काल में आकर ही हमें भक्ति-भावना का स्पष्ट रूप मिलता है। भक्ति-भावना के विकास में उपनिषदों का बहुत ही महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। सभी परवर्ती चिंतकों ने उपनिषदों से ही अपना कदम बढ़ाया है। फिर रामायण, महाभारत तथा गीता के युग तक आकर वैष्णव भक्ति-भावना का काफी विकास हो जाता है। इस प्रकार वेद, उपनिषद्, महाकाव्य, गीता, प्रबन्धम्, भागवत आदि वैष्णव भक्ति-भावना के विकास के विभिन्न सोपान हैं।

धर्म-साधना की दृष्टि से वैदिक युग से लेकर ब्राह्मण-ग्रंथों के युग तक धर्म-साधना की दो पद्धतियां कर्म और ज्ञान प्रचलित हो चुकी थीं। किन्तु वैदिक युग के ज्ञान और कर्म में से ब्राह्मण-ग्रंथों ने यज्ञीय कर्मकाण्ड को पराकाष्ठा की सीमा पर पहुंचा दिया था, और स्थिति यह हो गई थी कि यज्ञ और यज्ञ के पुरोहित के प्रभाव-मण्डल में स्वयं यज्ञ के देवता का तिरोधान होता जा रहा था। अवशेष रह गया केवल नाम। धर्म के क्षेत्र में केवल पुरोहितों का बोलबाला रह गया और उनकी

'तानाशाही' को चुनौती देते हुए उपनिषत्कारों ने तत्त्वान्वेषण का पथ जारी रखा। यह निर्विवाद है कि आचार-पक्ष धर्म का वह पक्ष है जो लोक की वस्तु है जिसे बहुमत का सहारा लेना पड़ता है, परन्तु वैदिक पुरोहितो ने लोक-जिज्ञासा का कोई उत्तर न देकर केवल अपनी दक्षिणाओं को बढ़ावा देना आरम्भ कर दिया था। परिणामस्वरूप उपनिषत्कारो ने चिन्तन-पक्ष को, जिसका बीज ऋग्वेद में भी विद्यमान था, संभाला। पर केवल इतने से काम नहीं चल सकता था, क्योंकि साध्य के साथ साधन की भी आवश्यकता थी।

वेद तथा उपनिषदो के परवर्ती युग मे आर्यों की धर्म-साधना युग की बदली हुई परिस्थितियों के अनुसार अपर्याप्त ही नहीं, बल्कि अनुपयुक्त भी सिद्ध हुई। अनुपयुक्तता का प्रधान कारण आर्थिक होने के साथ ही साथ सामाजिक भी था। यज्ञ इत्यादि धर्म सामान्य जन के लिए आर्थिक दृष्टि से कठिन होने के साथ ही साथ सामान्यजन के लिए उसमे स्थान भी नहीं था। इस परवर्ती युग मे आर्यों का सम्पर्क अनार्यों से हुआ और अनार्यों की संख्या भी भारतीय आर्यों से कम नहीं थी। इन अनार्यों के आर्यकरण की समस्या अवश्य ही जटिल रूप मे उपस्थित हुई होगी, जब अनार्यों को भी आर्य वर्ग मे सम्मिलित किया जाने लगा। यह स्मरणीय है कि उत्तर वैदिक युग तक आते-आते ज्ञान के क्षेत्र मे ब्राह्मण पुरोहितो के एकाधिकार को भारी आघात लगता है, दार्शनिक क्षत्रियो की अवतारणा से। भारतीय इतिहास की यह प्रथम घटना है, जब क्षत्रियों ने ब्राह्मणो को ज्ञान देना आरम्भ किया। अब धर्मोपदेश या सत्यान्वेषण केवल ब्राह्मणो के गुरुकुलो या शिक्षा-परिषदो तक सीमित न होकर क्षत्रिय राजाओ के आश्रय मे होने वाले विद्वत् सम्मेलनो तक पहुचता है। स्पष्ट है कि एक ओर तो अत्यधिक आडम्बरयुक्त एव व्ययसाध्य होने के कारण याज्ञिक कर्म-काण्डो की उपेक्षा आरम्भ हो चुकी थी और दूसरी ओर अनार्यों के आर्यकरण की समस्या भी उपस्थित थी, जिससे ब्राह्मण एकाधिकार खतरे मे था। इसी समय ब्राह्मणो की तरह क्षत्रियो ने भी धर्मोपदेश और सत्यान्वेषण मे भाग लेना आरम्भ कर दिया। परिणाम यह हुआ कि सपूर्ण मध्यदेश का सास्कृतिक पर्यावरण कुछ ऐसा हो गया जिसमे उत्तर वैदिक या ब्राह्मण धर्म नही खप सकता था। इसी पृष्ठभूमि मे भागवत, जैन तथा बौद्ध सप्रदायों या धर्मो की नीव पडी थी। पहला भागवत धर्म प्राचीन ब्राह्मण धर्म के एक अग के रूप मे विकसित हुआ, जब कि बौद्ध और जैन धर्म दोनो अब्राह्मण या अधिक उपयुक्त शब्दो मे ब्राह्मण-विरोधी सिद्ध हुए।

भागवत सप्रदाय मे प्राचीन वैदिक देवताओं तथा उनकी परम्परित कथाओ को ही कुछ परिवर्तन और परिवर्द्धन के साथ अपनाया गया, और उन्ही मूर्तियो को नये ढग से सवारा गया। आर्य और द्राविड (अनार्य) सस्कृतियो के सम्मिलन के परिणामस्वरूप प्राचीन आर्य तथा अनार्य द्राविड (तमिल) देवताओ मे बहुत हद तक एकीकरण या समीकरण होने लगा था। (इस तथ्य की विस्तृत चर्चा आगे करेंगे)। तब भी भागवत धर्म मे ब्राह्मणों का एकाधिपत्य बना रहा और सर्व-सामान्य के लिए धार्मिक क्षेत्र मे कोई अधिकार नही था। वर्णाश्रम व्यवस्था के

कारण केवल धर्म का ठेका उच्च वर्ण के अल्पसंख्यकों के हाथ में ही रहा। जब जैन और बौद्ध धर्म ब्राह्मण के विरोध में जन-साधारण के बहुमत को लेकर चलते थे और फिर जब वे भी आचरण के क्षेत्र में पतित होने लगे तो एक नई स्थिति उत्पन्न हुई। इसी युग में धार्मिक क्षेत्र में भागवत धर्म को जन-साधारण के लिए उपयुक्त तथा धर्म के साधन-पक्ष को सर्वसुलभ और आकर्षक बनाने के साथ ही व्यापक क्षेत्र में सुधार लाने की मांग हुई। इसी युग की आवश्यकता की पूर्ति के लिए ही दक्षिण (अर्थात् तमिल-प्रदेश) के आलवार [illegible] आन्दोलन-रूपी [illegible] ने और नायनमा[illegible] साथ ही शास्त्रों [illegible] भक्ति को भावमूलक रूप प्रदान किया। [illegible] का सर्वसुलभ बनाने के [illegible] भक्ति-भावना के इतिहास में यह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण घटना थी।

'आंदोलन' शब्द की यथार्थता

आलवारों के द्वारा भक्ति-मार्ग को जो नया रूप दिया गया, उसीको हमने 'वैष्णव भक्ति-आंदोलन' का नाम दिया है, और यहीं से वैष्णव भक्ति-आंदोलन का प्रारम्भ भी माना है। यह 'भक्ति-आंदोलन' शब्द बहुत ही उचित और समीचीन भी है। कई विद्वानों ने तथा इतिहासकारों ने भक्ति के इस नवीन मार्ग को 'आंदोलन' (मूवमेंट) या धर्म-सुधार (रिलीजस रिफार्म) का नाम दिया है। अंग्रेजी शब्द 'मूवमेंट' का अर्थ है कुछ व्यक्तियों या व्यक्ति-समूहों द्वारा किसी विशेष उद्देश्य की उपलब्धि के लिए किया जाने वाला प्रयत्न। इसके अन्यान्य अर्थों से भी यह व्यंजित होता है कि किसी विशेष प्रकार की गति-विधि या क्रियाशीलता से ही इस शब्द का सम्बन्ध है। 'आन्दोलन' शब्द भी लगभग यही अर्थ देता है। 'सुधार' या 'रिफार्मेशन' शब्द के साथ 'क्रांति' (रेवोल्यूशन) शब्द का भी प्रयोग किया जाता है, जो धार्मिक गतिविधियों की ओर संकेत करनेवाला है। बौद्ध-जैन धर्मों के प्रवर्तक महात्माओं ने जिस नई धार्मिक चेतना को प्रचारित किया, उसे इतिहास में 'बौद्धिक क्रांति' की संज्ञा दी गई है। आलवार भक्तों ने वैष्णव भक्ति के क्षेत्र में नवीन तत्त्वों का समावेश करके भक्ति-मार्ग को जो नवीन मोड़ दिया था उसको 'आन्दोलन' शब्द से अभिहित करना ही अधिक उचित है। 'पुनरुत्थान' या 'पुनर्जागरण' शब्दों से भी 'आंदोलन' शब्द का अर्थ निकलता है। परन्तु 'आंदोलन' शब्द ही कहीं अधिक समीचीन है, क्योंकि धार्मिक आन्दोलन अपने को युग की आवश्यकता के अनुसार पूर्व प्रचलित धर्म-पद्धति में सहिष्णु परिवर्तन एवं परिवर्द्धन तक ही सीमित रखता है, जब कि धार्मिक क्रांति पुरानी व्यवस्था के प्रति विद्रोह की भावना लेकर आमूल परिवर्तन के लिए खड़ी होती है। प्राचीनता और नवीनता में सामंजस्य स्थापित करके चलनेवाली गति-विधियों को 'आन्दोलन' और दोनों में किसी प्रकार का प्रत्यक्ष सामंजस्य न मानकर विरोधात्मक तत्त्वों पर आधारित संगठित प्रयास को 'क्रांति' की कोटि में रख सकते हैं। परिवर्तन दोनों का लक्ष्य रहता है, परन्तु जहां 'आन्दोलन' में

सुधार की भावना अधिक रहती है, वहां 'क्रांति' मे आमूल परिवर्तन की भावना ऊपर उठती है, जिसका अनुगमन सुधार स्वतः ही करता जाता है।

'आन्दोलन' शब्द की सार्थकता आलवारो से सचालित 'भक्ति-आन्दोलन' में भक्ति-भावना के विकास के इतिहास की दृष्टि से ठीक ही घटित होती है। आलवार भक्तों ने परम्परागत शास्त्रसम्मत भक्ति-भावना मे सुधार किया, न कि उसका आमूल परिवर्तन किया। वैदिक भक्ति-धारा तथा द्राविड़ भक्ति-धारा का उन्होने समन्वय किया। वेद, उपनिषद्, गीता से विचारो को ग्रहण कर, उनमे युगानुकूल दूसरे तत्त्वों का भी समावेश करके भक्ति-धर्म को लोक-धर्म का व्यापक रूप प्रदान किया। आलवारों से पूर्व वैष्णव भक्ति कुछ धार्मिक ठेकेदारो की चहारदीवारी मे बन्दिनी थी। उसे उनके हाथों से छुड़ाकर आलवारो ने सबके लिए सुलभ और साध्य बना दिया। सामाजिक स्तर पर वैष्णव भक्ति का द्वार सभी जातियो के लिए खोलकर आलवार भक्तों ने वैष्णव भक्ति को पहली बार लोक-धर्म या जन-धर्म बना दिया। यही नही, यज्ञादि कर्मों मे सीमित रहनेवाली शास्त्रीय वैष्णव भक्ति को भावात्मक (भावमूलक) रूप देकर सर्वसाधारण के लिए उसे सरल और सुलभ बनाने के साथ भक्ति को केवल अनुभूति का साधन घोषित किया। संस्कृत ग्रंथो मे वर्णित तथा केवल कुछ ही लोगों की समझ में आनेवाली वैष्णव भक्ति को विशाल जन-समूह तक पहुचाने के लिए आलवार भक्तो ने पहली बार जन-भाषा तमिल मे भक्ति-गीत रचे। यह भक्ति-भावना के विकास के इतिहास मे एकदम महत्त्वपूर्ण घटना है।

आलवार भक्तो का भक्ति-आन्दोलन यथार्थ मे जन-आन्दोलन था। क्योकि ये पद-रचना करके सामान्य कवियो की तरह अपने घरो मे पडे नही थे, बल्कि खुले क्षेत्र मे घूम-घूमकर इन्होने जन-साधारण के बीच भक्ति का प्रचार कर एक नवीन जन-जागरण के ऐसे वातावरण का सृजन किया, जिसमें भक्ति का स्वर सबसे ऊंचा था। भक्ति-आन्दोलन का नेतृत्व करनेवाले आलवार भक्तो ने स्वय अपने जीवन-आदर्शों के बल पर वैष्णव भक्ति के नवीन रूप को जनता-जनार्दन के सम्मुख रखा। कहना चाहिए कि उन्होने भक्ति का राष्ट्रीयकरण (नेशनला-इज़ेशन) कर दिया, जिससे उस पर केवल कुछ ही लोगों का एकाधिकार न होकर, सबका समान रूप से अधिकार हो गया। आलवारो के सचालित भक्ति-मार्ग को जन-आन्दोलन की सज्ञा देने का एक दूसरा कारण यह भी है कि उन्होने भक्ति-भावना के उदार तत्त्वो के साथ सगीत का भी सहारा लेकर उसे सार्वजनीन और सार्वभौमिक तो बना दिया साथ ही उसे गा-गाकर आत्म-विभोर होने की अनुभूति की चीज भी बना दिया। साराश यह है कि आलवारो का वैष्णव भक्ति-आंदोलन सच्चे अर्थ मे व्यापक जन-आंदोलन था।

स्थायित्व की दृष्टि से भी आन्दोलन और क्रान्ति मे बहुत बड़ा अन्तर है। 'आन्दोलन' निरन्तर चलनेवाला हो सकता है, जबकि क्रांति बहुधा अल्पकालीन ही होती है। किसी परम्परागत या रूढ़िगत मत या व्यवस्था मे आमूल परिवर्तन ला देने के बाद क्रांति का उद्देश्य पूर्ण हो जाता है और वही उसकी गतिशीलता

समाप्त हो जाती है। परन्तु आन्दोलन हर नई परिस्थिति का पूरा-पूरा ध्यान रखते हुए और प्रगति में सामंजस्य स्थापित करने का अनवरत प्रयत्न करता रहता है। अतः वह दीर्घकालीन ही नहीं, अधिकांशतः नित्य होता है। इसका स्पष्ट उदाहरण यह है कि आलवारों से प्रारम्भ होनेवाला वैष्णव भक्ति-आन्दोलन परवर्ती युग में भी चला और दक्षिण से उत्तर तथा विभिन्न भागों में फैलकर अन्त तक आन्दोलन ही रहा। मध्य युग में नवीन परिस्थितियों में युगानुकूल नवीन तत्त्वों का समावेश कर वह वैष्णव भक्ति-आन्दोलन, सदा आन्दोलन ही बना रहा। इस प्रकार आलवारों ने भक्ति-मार्ग को जो नवीन मोड़ दिया, उसे 'आन्दोलन' कहना ही उचित है। ब्राह्मणकालीन याज्ञिक कर्मकाण्डों द्वारा उत्पन्न आर्थिक-सामाजिक समस्याओं का समाधान करते हुए नवोदित सामाजिक परिस्थितियों का पूरा-पूरा ध्यान रखते हुए, परम्परागत भक्ति के प्रति विद्रोह न करके आलवारों ने उसे सबके लिए सुलभ आकर्षक रूप देकर वैष्णव भक्ति को सुदृढ़ आधार-भूमि प्रदान की। अतः इसको बौद्ध-जैन धर्मों की तरह 'क्रान्ति' न कहकर सुधारवादी भक्तिपरक जन-आन्दोलन ही कहना उचित है।

कुछ विद्वानों ने भक्ति-आन्दोलन का प्रारम्भ उपनिषत्काल से ही माना है, परन्तु वस्तुस्थिति यह है कि आलवार भक्तों के काल से ही यथार्थ में पूर्ण रूप से वैष्णव भक्ति को 'आन्दोलन' का रूप प्राप्त होता है। अतः भारतीय वैष्णव भक्ति आंदोलन का प्रारम्भ आलवार भक्तों से ही मानना संगत है।

आलवार भक्तों का समय ईसा की पांचवीं शताब्दी से नवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक है। आलवारों के द्वारा प्रेरित होनेवाला भक्ति-आन्दोलन ज़ोर पकड़ रहा था कि आठवीं शताब्दी में शंकराचार्य के आविर्भाव ने पुनः प्राचीन युगीन समस्याओं को वैष्णवों के सामने उपस्थित किया। इस बार वैष्णवों से उनके साकार ब्रह्म को छीन लेने का प्रयत्न हुआ और उस अपहरण का आधार श्रुतियों को बताया गया। शंकराचार्य के देशव्यापी प्रभाव को चुनौती देकर आलवारों से सुधार पानेवाले नवीन आकर्षक भक्ति-मार्ग को देशव्यापी बनाने के लिए आलवारोत्तर काल में वैष्णव आचार्यों ने विशेषकर रामानुजाचार्य ने आलवार-भक्ति का (संस्कृत के माध्यम से) शास्त्रीय विवेचन प्रारम्भ कर दिया। इस प्रयत्न से अनेक सम्प्रदायों का जन्म हुआ, जिन्होंने अपने-अपने क्षेत्र में भक्ति-मार्ग को प्रतिष्ठित कर उसे लोकप्रिय बना दिया।

मध्ययुग का प्रारम्भ हम दसवीं शताब्दी से मानते हैं। उसकी अवधि सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी तक है। आलवारोत्तर काल ही भक्ति-साहित्य के इतिहास में 'मध्यकाल' कहलाता है। मध्य युग में दक्षिण भारत में वैष्णव भक्ति-आन्दोलन पराकाष्ठा पर पहुंचा था, जब कि उत्तर भारत पराधीनता की जंजीरों में जकड़कर पतित धार्मिक अवस्था में था। वहां भी सुधार की आवश्यकता हुई। जब परिस्थितियां तेरहवीं और चौदहवीं शताब्दियों में बहुत ही विकट हो गईं,

तब उन्होंने एक व्यापक जन-आंदोलन को जन्म दिया। मध्ययुगीन उत्तर भारत (हिन्दी-प्रदेश) की परिस्थितियों में विशेषकर हिन्दू-धर्म की स्थिति में जो बीमारियां थीं, उनको ठीक करने की सारी औषधियां, दक्षिण के वैष्णव भक्ति-आन्दोलन में थी। यही प्रमुख कारण है कि दक्षिण के वैष्णव भक्ति-आन्दोलन का स्वाभाविक रूप से उत्तर में स्वागत हुआ। उत्तर में दक्षिण के इस सर्व सुलभ, सार्वजनीन, सार्वभौमिक उदार वैष्णव भक्ति-आन्दोलन को जन-आन्दोलन का व्यापक रूप देने के लिए जन-भाषा हिन्दी के माध्यम से भक्ति-मार्ग का प्रचार करने की आवश्यकता थी। यह कार्य स्वामी रामानन्द ने किया। इस प्रकार रामानन्द ने उत्तर में (हिन्दी-प्रदेश में) वैष्णव भक्ति का द्वार सबके लिए खोल दिया और दक्षिण के वैष्णव भक्ति-आन्दोलन के सभी आकर्षक तत्त्वों का समावेश अपने युग की आवश्यकता के अनुसार किया। तब भक्ति-आन्दोलन 'बिजली की चमक' के समान समस्त उत्तर भारत में फैल गया। इसको देखकर विदेशी विद्वान् आश्चर्यचकित हो जाते हैं और इस आन्दोलन की पूर्व पीठिका का सही विवरण प्राप्त न करने के कारण गलत अनुमान कर बैठे हैं। स्वामी रामानन्द ही उत्तर और दक्षिण के वैष्णव भक्ति-आंदोलन के सेतु हैं। इस प्रकार वैष्णव भक्ति-आंदोलन देशव्यापी बन गया। उत्तर में मुसलमान शासन तथा भारत में इस्लाम का आगमन केवल संयोग की बात थी। परवर्ती युग में भक्ति-आंदोलन को व्यापक रूप देने में तथा उसे लोकप्रिय बनाने में उसका थोड़ा-बहुत हाथ रहा। परन्तु इतना निश्चित है कि उत्तर में (हिन्दी-प्रदेश में) मुसलमान शासकों की कट्टर धार्मिक नीति या इस्लाम के प्रचार के अभाव में भी दक्षिण का वैष्णव भक्ति-आंदोलन स्वाभाविक रूप से मध्ययुग में उत्तर में आ पहुंचता। हां, उत्तर की राजनीतिक परिस्थितियों ने वैष्णव भक्ति-आंदोलन के लिए अभीप्सित अनुकूल वातावरण का सर्जन अवश्य किया।

मध्ययुगीन वैष्णव भक्ति-आंदोलन देशव्यापी रहा। यही कारण है कि सभी भारतीय भाषाओं का मध्ययुगीन साहित्य भक्ति-भावना से ओत-प्रोत है। मध्ययुग में व्यापक भक्ति-आंदोलन के द्वारा उत्पन्न भक्तिमय वातावरण के कारण ही समस्त भारतीय भाषाओं में विपुल मात्रा में भक्ति-साहित्य का निर्माण हुआ। भारतीय भाषाओं के मध्ययुगीन साहित्य में यह भावात्मक एकता बहुत ही स्पष्ट रूप में परिलक्षित होती है। यह भक्ति-आंदोलन की महती देन है। इस प्रकार सम्पूर्ण भारत को एकता के सूत्र में बांधकर अनेकता में एकतावाली भारतीय संस्कृति के मूलभूत तथ्य को मध्ययुग में वैष्णव भक्ति-आंदोलन ने सुदृढ़ किया।

अध्ययन की दिशा

दक्षिण अर्थात् तमिल-प्रदेश में ईसा की पांचवीं शताब्दी से नवीं शताब्दी तक लगातार रूप से गतिशील रहने वाला भक्ति-आन्दोलन वैष्णव भक्त आल-वार और शैव भक्त नायन्मारों की देन है। परवर्ती युग में कई कारणों से तमिल-

प्रदेश का वैष्णव भक्ति-आन्दोलन ही वैष्णव आचार्यों के माध्यम से तमिल-प्रदेश की सीमा को पारकर नाना भागों में प्रसारित हो सका और हिन्दी-प्रदेश में सशक्त रूप में प्रचार पा सका। उसकी तुलना में तमिल-प्रदेश के शैव भक्तों का शैव-भक्ति-आन्दोलन कुछ कारणों से तमिल-प्रदेश में ही सीमित रह गया। चूंकि हिन्दी का अधिकांश भक्ति-साहित्य वैष्णव भक्ति-साहित्य है और वह वैष्णव भक्ति-आन्दोलन की देन है, अतः हमने अध्ययन को आकर्षक और अधिक उपयोगी बनाने के हेतु वैष्णव भक्ति-आन्दोलन तक ही सीमित रखा है। इस योजना के कारण प्रस्तुत अध्ययन में तमिल तथा हिन्दी के वैष्णव-भक्ति-साहित्यों का पूरा-पूरा उपयोग किया जा सका है। एक प्रकार से दक्षिण से उत्पन्न होकर परवर्ती युग में उत्तर में प्रसारित होने वाले वैष्णव भक्ति-आन्दोलन के इतिहास का अधिकांश भाग तमिल तथा हिन्दी वैष्णव-भक्ति-साहित्यों के भीतर ही दृष्टिगोचर है। यही कारण है कि वैष्णव-भक्ति-आन्दोलन के क्रमिक विकास को दर्शाने की दृष्टि से इस ग्रंथ में वैष्णव भक्ति-आन्दोलन का अध्ययन तमिल और हिन्दी-साहित्यों के आधार पर किया गया है।

भक्ति-आन्दोलन के महत्व ने साहित्य, धर्म, दर्शन और इतिहास के पण्डितों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया और १६वीं शताब्दी से ही इस दिशा में महत्त्वपूर्ण कार्य किए जाने लगे। इन कार्यों में विशेष उल्लेखनीय वे हैं जो भक्ति-आन्दोलन या भागवत सम्प्रदाय पर प्रकाश डालते हैं अथवा स्थान विशेष में पल्लवित वैष्णव धर्म की रूपरेखा प्रस्तुत करते हैं। प्रथम कोटि के ग्रन्थों में विशेष महत्त्वपूर्ण और उल्लेखनीय दो ग्रंथ हैं—डा० भण्डारकर की पुस्तक 'वैष्णवइज्म, शैवइज्म एण्ड अदर माइनर सेक्ट्स' तथा डा० हेमचन्द्र राय चौधरी की पुस्तक 'मेटिरियल फार द स्टडी आफ अर्ली हिस्ट्री आफ वैष्णव सेक्ट'। डा० भण्डारकर तथा डा० हेमचन्द्र राय चौधरी ने साहित्य एवं पुरातात्त्विक सामग्री की छानबीन कर यह निष्कर्ष निकाला कि भक्ति-आन्दोलन पूर्णतया भारतीय मनीषियों की देन है। डा० भण्डारकर के अनुसार पांचवीं शताब्दी ईसा पूर्व में वैष्णव धर्म एकेश्वरवाद के सिद्धान्तों को आधार बनाकर धर्म-सुधार-आन्दोलन के रूप में एकान्तिक धर्म के नाम से खड़ा हुआ। उस समय 'गीता' की रचना हुई और शीघ्र ही इसने एक सम्प्रदाय का रूप धारण किया जिसे पांचरात्र या भागवत धर्म कहा जाने लगा। सात्वत वंश वालों ने इसे बढ़ावा दिया। पहली शती ई० तक इस सम्प्रदाय में बालगोपाल का अभाव रहा। उसके पश्चात् आभीरों ने बाल गोपाल की कथाओं का समावेश किया और आठवीं शताब्दी तक यह सम्प्रदाय इसी रूप में चलता रहा। तब शंकराचार्य का आविर्भाव हुआ, जिससे भक्ति-आन्दोलन में गतिरोध आ जाने की आशंका हुई, किन्तु ११वीं शती में रामानुजाचार्य ने उसे संभाला और उसे नया रूप प्रदान किया। उत्तर में निम्बार्काचार्य ने उनका अनुकरण किया और बाल गोपाल की उपासना को प्राधान्य दिया। तेरहवीं शती में मध्वाचार्य ने भक्ति-आन्दोलन को आगे बढ़ाया। उत्तर भारत में रामानन्द ने उसके विकास को गतिशील किया और भागवत धर्म में रामोपासना...

का प्रचार किया। १५वीं शती में कबीर ने भक्ति-आन्दोलन के विकास में महत्त्वपूर्ण योग दिया और १६वीं शती में वल्लभाचार्य ने और चैतन्य महाप्रभु ने कृष्णोपासना को आगे बढ़ाया।

जब भागवत धर्म सम्बन्धी चरितों का समीकरण कर भक्ति-आन्दोलन का शृंखलाबद्ध इतिहास प्रस्तुत किया गया तब अनेक भारतीय तथा विदेशी विद्वानों ने इस विषय पर ऐतिहासिक आधार पर लिखना प्रारम्भ कर दिया और डा० भण्डारकर के मतों का खण्डन-मण्डन हुआ। डा० चौधरी ने इस विषय पर और प्रकाश डाला है। उन्होंने भक्ति-आन्दोलन के प्राचीन इतिहास के अध्ययन की सामग्री की पूरी छानबीन करके उन समस्याओं का निराकरण कर दिया जो डा० भण्डारकर के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की रचना के बाद रह गई थीं। डा० चौधरी के मतानुसार चौथी शती ई० पू० तक मथुरा में ही भागवतों की संख्या अधिक थी और दूसरी शती ई० पू० में भागवत धर्म भारत के पश्चिमोत्तर सीमान्त प्रदेश में पहुंचा। अब अनेक विदेशी भी उसे स्वीकार करने लगे। प्रथम शती ई० पू० तक वह महाराष्ट्र में भी पहुंचा, जहां से वह तमिल-प्रदेश में गया और फिर वहां से नई गति एवं नया कलेवर लेकर सारे हिन्दू जगत् में फैल गया। गुप्तों के उदय के पश्चात् तो भागवत धर्म का प्राधान्य स्थापित हो गया। लेकिन उस युग में रामावत सम्प्रदाय का कोई अभिलेख नहीं मिलता। गुप्तों के पतन के बाद भागवत धर्म उत्तर में धीमा पड़ गया। नवीं शताब्दी में भागवतों का पुनः प्राधान्य स्थापित हो गया।

डा० भण्डारकर और डा० चौधरी के इन दो महत्त्वपूर्ण ग्रंथों के अतिरिक्त कुछ अन्य विद्वानों ने भी ऐसे कुछ ग्रंथों का प्रणयन किया जो स्थान विशेष में पल्लवित वैष्णव धर्म पर अथवा किसी वैष्णव आचार्य पर प्रकाश डालते हैं। इस कोटि में आने वाले कुछ ग्रंथों में दक्षिण के कुछ विद्वानों ने केवल दक्षिण के वैष्णव भक्ति-आंदोलन पर ऐतिहासिक दृष्टिकोण से प्रकाश डालने का प्रयत्न किया। परन्तु समग्र रूप से भक्ति-आंदोलन पर प्रकाश डालने वाले ग्रंथ उपर्युक्त दो विद्वानों के ही विशेष रूप से थे, दूसरे अधिकतर प्रदेश-विशेष के भक्ति-आंदोलन पर प्रकाश डालने वाले थे। हिन्दी में भी इस विषय पर कुछ कार्य हुआ। भक्ति-आंदोलन पर प्रकाश डालने वाले केवल दो ही ग्रंथ प्रमुख हैं : पं० बलदेव उपाध्याय का 'भागवत धर्म' और पं० परशुराम चतुर्वेदी का 'वैष्णव-धर्म'। फिर डा० मुंशीराम शर्मा का 'भक्ति का विकास' भी प्रकाश में आया। हिन्दी-साहित्य के इतिहास ग्रंथों में भी भक्ति-आंदोलन के विषय में यत्र-तत्र विवरण दिए गए हैं। इनमें आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की पुस्तक 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी की 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' तथा 'मध्यकालीन धर्म-साधना', पं० परशुराम चतुर्वेदी की पुस्तक 'भक्ति-साहित्य में मधुरोपासना', डा० रामकुमार वर्मा की पुस्तक 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' आदि उल्लेखनीय हैं। विविध संप्रदायों पर भी विद्वान् लेखकों ने हिन्दी में कुछ महत्त्वपूर्ण कार्य किए हैं। फिर भी इन विद्वानों के ग्रंथों

में भारतीय वैष्णव भक्ति-आंदोलन का पूर्ण चित्र संतुलित रूप में आ नहीं सका। भक्ति-साहित्य पर लिखने वाले सभी हिन्दी विद्वानों ने वैष्णव भक्ति-आंदोलन के उन्नायक आलवार भक्तों का संक्षिप्त परिचय (गलत या सही रूप में) अवश्य दिया है। परन्तु इन ग्रंथों में वैष्णव भक्ति-आंदोलन के पूर्ण चित्र को संतुलित रूप में देखने में तमिल-प्रदेश के आलवारों के सम्बन्ध में और बहुत कुछ कहने की आवश्यकता रह गई थी। चूंकि इन विद्वानों की पहुंच तमिल-प्रदेश के आलवारों के तमिल 'प्रबन्धम्' तक नहीं थी और तमिल-प्रदेश (दक्षिण) के विद्वानों की पहुंच हिन्दी भक्ति-साहित्य तक विशेष नहीं थी, अतः इन दोनों क्षेत्रों के विद्वानों के ग्रंथों में वैष्णव भक्ति-आंदोलन का संतुलित पूर्ण चित्र उपस्थित किया नहीं जा सका। प्रस्तुत ग्रंथ के लेखनकाल में हिन्दी में एक ग्रन्थ भक्ति-आन्दोलन पर प्रकाशित हुआ। यह ग्रंथ डा० रतिभानुसिंह 'नाहर' का है। इस ग्रंथ में भक्ति-आंदोलन पर और भी प्रकाश डाला गया है। इस प्रशंसनीय ग्रंथ में भक्ति-आंदोलन का समग्र चित्र देने का प्रयत्न हुआ है, पर आधार अधिकतर ऐतिहासिक है और संतुलित दृष्टि से वैष्णव भक्ति-आंदोलन के विषय में दक्षिण के आलवार भक्तों से सम्बन्धित सामग्री कम दी जा सकी है। अतः साहित्यिक तथा ऐतिहासिक दोनों दृष्टिकोणों को समान महत्त्व देकर, विशेषकर साहित्यिक आधार पर वैष्णव भक्ति-आंदोलन के इतिहास को संतुलित रूप में, नवीन सामग्री का समावेश करके शोधपरक दृष्टि से प्रस्तुत करने की आवश्यकता रह गई है। प्रस्तुत अध्ययन इस आवश्यकता की पूर्ति का एक प्रयास मात्र है। प्रस्तुत लेखक का सौभाग्य है कि उसकी मातृभाषा तमिल है और उसे तमिल, हिन्दी और अंग्रेजी पर समान अधिकार है। अतः इन तीनों में उपलब्ध सामग्री की तटस्थ रूप से छान-बीन कर वैष्णव भक्ति-आन्दोलन का अध्ययन तमिल और हिन्दी-साहित्य के आधार पर प्रस्तुत करने का प्रयत्न प्रस्तुत ग्रंथ के रूप में हुआ है।

प्रस्तुत अध्ययन के सार-रूप में जो तथ्य निकलता है, उसको एक रूपक में इस प्रकार वर्णित किया जा सकता है: भारतीय वैष्णव भक्ति-आंदोलन एक विशाल वृक्ष है और आलवार भक्त उस वृक्ष की जड़ें हैं। जड़ें प्रत्यक्ष रूप से दीख नहीं पड़ती है, जो जमीन के अंदर चली गई हैं। परन्तु वृक्ष को जीवित रखने के लिए जड़ें ही आहार देती हैं। इस प्रकार वृक्ष रूपी वैष्णव भक्ति-आंदोलन का पोषण आलवार 'प्रबन्धम्' से होता रहा है। वृक्ष की दूर तक फैली हुई विविध शाखाएं विभिन्न भक्ति-संप्रदाय हैं। इन संप्रदायों को पोषित करने के लिए जड़ों से संगठित आहार मध्य भाग (स्थाणु) के द्वारा ही पहुंचता है। यही मध्य भाग है श्री संप्रदाय और भागवत। जिस प्रकार शाखाएं क्रमशः ऊंचाई की ओर बढ़ती हैं और चारों ओर फैलती जाती हैं, उसी प्रकार वैष्णव भक्ति-आंदोलन दक्षिण भारत से क्रमशः उत्तर की ओर प्रसारित हुआ और चारों ओर प्रचारित हुआ। फिर इन शाखाओं में लगे फलों के रूप में असंख्य वैष्णव भक्त कवि हैं, जो विभिन्न संप्रदायों में हुए हैं। उस भक्ति-आन्दोलन रूपी वृक्ष की शीतल छाया में [illegible]

युग मध्याह्न के प्रखर ताप से बचकर आत्म शान्ति पाते हुए फलों का रसास्वादन करने वाले हैं मध्ययुगीन तथा परवर्ती भक्त जन। इस वृक्ष के रूपक में जड़ों का जो महत्त्व है, वही भारतीय भक्ति-आंदोलन में आलवार भक्तों का है। अधिक क्या कहें। इस रूपक से भारतीय वैष्णव भक्ति-आंदोलन का एक सम्पूर्ण चित्र जो दृष्टिगोचर होता है, उसीका निरूपण ही आगे के अध्यायों में सविस्तार करने का प्रयत्न हुआ है।

द्वितीय अध्याय

वैष्णव भक्ति का उद्भव और विकास

(भक्ति-भावना से भक्ति-आन्दोलन तक)

वैष्णव-भक्ति का जो वर्तमान स्वरूप है, वह बहुत कुछ दक्षिण के वैष्णव-भक्ति-आंदोलन की देन है। वैष्णव भक्ति के क्रमिक विकास में तमिल-प्रदेश की अपनी धार्मिक परंपरा का भी महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। वैष्णव-भक्ति-आंदोलन के पूर्व वैष्णव-भक्ति का जो स्वरूप दिखाई देता है, वह भी एक प्रकार से वैदिक युग से चली आने वाली वेद, उपनिषद् आदि से प्रभावित भक्ति-परंपरा के साथ तमिल-प्रदेश की द्राविड़-संस्कृति में परिपोषित भक्ति-परंपरा के मिल जाने के परिणामस्वरूप ही है। ऐसा प्रतीत होता है कि वैष्णव-भक्ति की दोनों धाराएं ईसा की पहली शताब्दी के बहुत पूर्व से ही समानान्तर रूप से चली आ रही थी और लगभग ईसा की पहली शताब्दी से ये दोनों धाराएं स्थान-स्थान पर एक दूसरी का स्पर्श और आलिंगन करती दिखाई देती हैं और ईसा की चौथी-पांचवीं शताब्दी तक दोनों धाराएं पूर्ण रूप से मिलकर एक हो जाती हैं। इस तथ्य को भली-भांति समझने के लिए यह आवश्यक है कि वैष्णव भक्ति के क्रमिक विकास पर प्रकाश डाला जाए और तमिल-प्रदेश की भक्ति-परंपरा का भी परिचय देकर दोनों धाराओं के सम्मिलित होने पर निकलने वाली वैष्णव भक्ति-धारा का अनुशीलन किया जाए।

वैष्णव भक्ति की विकास-परंपरा में दक्षिण के वैष्णव भक्ति-आंदोलन का योगदान बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इस आंदोलन के प्रमुख कर्णधार और उन्नायक आलवार भक्तों का समय सामान्य रूप से पांचवीं-छठी शताब्दी से नवीं शताब्दी तक माना जाता है। चूंकि आलवार संत तमिल-प्रदेश के थे, अतः उन पर तमिल-प्रदेश की सभी पूर्ववर्ती भक्तिपरक और धार्मिक परंपराओं के प्रभाव का पड़ना स्वाभाविक ही है। आलवार-भक्तों ने परंपरा से चली आनेवाली वैष्णव भक्ति का परिष्कार कर उसे ऐसा नवीन और आकर्षक रूप दिया, जिससे वैष्णव भक्ति को प्रबल आंदोलन का रूप प्राप्त हो सका। अतः आलवारों से प्रेरित वैष्णव भक्ति-आंदोलन के सम्पूर्ण अध्ययन के लिए यह भी देखना बहुत आवश्यक है कि भक्ति-आंदोलन के उन्नायक आलवारों पर किन-किन पूर्व परंपराओं का प्रभाव पड़ा है और आलवार-साहित्य की धार्मिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक पृष्ठभूमि क्या थी? इस दृष्टि से यहां वैष्णव भक्ति-भावना के उद्भव-काल से वैष्णव भक्ति

युग मध्याह्न के प्रखर ताप से बचकर आत्म शान्ति पाते हुए फलों का रसास्वादन करने वाले हैं मध्ययुगीन तथा परवर्ती भक्त जन। इस वृक्ष में रूपक में जड़ों का जो महत्त्व है, वही भारतीय भक्ति-आंदोलन में आलवार भक्तों का है। अधिक क्या कहें। इस रूपक से भारतीय वैष्णव भक्ति-आंदोलन का एक सम्पूर्ण चित्र जो दृष्टिगोचर होता है, उसीका निरूपण ही आगे के अध्यायों में सविस्तार करने का प्रयत्न हुआ है।

द्वितीय अध्याय

वैष्णव भक्ति का उद्भव और विकास

(भक्ति-भावना से भक्ति-आन्दोलन तक)

वैष्णव-भक्ति का जो वर्तमान स्वरूप है, वह बहुत कुछ दक्षिण के वैष्णव-भक्ति-आंदोलन की देन है। वैष्णव भक्ति के क्रमिक विकास में तमिल-प्रदेश की अपनी धार्मिक परंपरा का भी महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। वैष्णव-भक्ति-आंदोलन के पूर्व वैष्णव-भक्ति का जो स्वरूप दिखाई देता है, वह भी एक प्रकार से वैदिक युग से चली आने वाली वेद, उपनिषद् आदि से प्रभावित भक्ति-परंपरा के साथ तमिल-प्रदेश की द्राविड़-संस्कृति में परिपोषित भक्ति-परंपरा के मिल जाने के परिणामस्वरूप ही है। ऐसा प्रतीत होता है कि वैष्णव-भक्ति की दोनों धाराएं ईसा की पहली शताब्दी के बहुत पूर्व से ही समानान्तर रूप से चली आ रही थी और लगभग ईसा की पहली शताब्दी से ये दोनों धाराएं स्थान-स्थान पर एक दूसरी का स्पर्श और आलिंगन करती दिखाई देती हैं और ईसा की चौथी-पांचवीं शताब्दी तक दोनों धाराएं पूर्ण रूप से मिलकर एक हो जाती हैं। इस तथ्य को भली-भांति समझने के लिए यह आवश्यक है कि वैष्णव भक्ति के क्रमिक विकास पर प्रकाश डाला जाए और तमिल-प्रदेश की भक्ति-परंपरा का भी परिचय देकर दोनों धाराओं के सम्मिलित होने पर निकलने वाली वैष्णव भक्ति-धारा का अनुशीलन किया जाए।

वैष्णव भक्ति की विकास-परंपरा में दक्षिण के वैष्णव भक्ति-आंदोलन का योगदान बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इस आंदोलन के प्रमुख कर्णधार और उन्नायक आलवार भक्तों का समय सामान्य रूप से पांचवीं-छठी शताब्दी से नवीं शताब्दी तक माना जाता है। चूंकि आलवार संत तमिल-प्रदेश के थे, अतः उन पर तमिल-प्रदेश की सभी पूर्ववर्ती भक्तिपरक और धार्मिक परंपराओं के प्रभाव का पड़ना स्वाभाविक ही है। आलवार-भक्तों ने परंपरा से चली आनेवाली वैष्णव भक्ति का परिष्कार कर उसे ऐसा नवीन और आकर्षक रूप दिया, जिससे वैष्णव भक्ति को प्रबल आंदोलन का रूप प्राप्त हो सका। अतः आलवारों से प्रेरित वैष्णव भक्ति-आंदोलन के सम्पूर्ण अध्ययन के लिए यह भी देखना बहुत आवश्यक है कि भक्ति-आंदोलन के उन्नायक आलवारों पर किन-किन पूर्व परंपराओं का प्रभाव पड़ा है और आलवार-साहित्य की धार्मिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक पृष्ठभूमि क्या थी? इस दृष्टि से यहां वैष्णव भक्ति-भावना के उद्भव-काल से वैष्णव भक्ति

आंदोलन तक के इतिहास पर संक्षेप मे प्रकाश डालना आवश्यक हो गया है।

वैदिक भक्ति-परंपरा में वैष्णव भक्ति का विकास

वेद में विष्णु

साहित्यिक विरासत के रूप में ऋग्वेद संहिता ही भारत का प्राचीनतम उपलब्ध साहित्य है। आर्यों के सभी समूहो के आदि ग्रंथो मे इन्द्र, मित्र, वरुण आदि का नैसर्गिक शक्तियो के देवताओ के रूप मे वर्णन है। ऋग्वेद के पूर्व आर्यों की किसी भी शाखा मे विष्णु का उल्लेख नही मिलता। ऋग्वेद भी अपने वर्तमान उपलब्ध रूप मे, किसी एक व्यक्ति या काल की रचना नही है, अपितु काल-क्रम मे अनेक कण्ठो द्वारा परपरा से प्रवाहित मन्त्र-साहित्य है।

ऋग्वेद में विष्णु-स्तुतिपरक मन्त्र केवल चार है। इनके अतिरिक्त केवल एक अन्य मन्त्र मे इन्द्र और विष्णु की एक साथ स्तुति की गई है। समस्त वेद में विष्णु का केवल एक सौ बार नामोल्लेख है, जब कि इन्द्र, अग्नि, उषा, बृहस्पति, वरुण आदि के अनेक स्तुतिपरक मन्त्र है। ये देवता ही समय-समय पर विभिन्न मन्त्रों में सर्वश्रेष्ठ माने गए हैं।[1] ऋग्वेद के स्तुतिपरक मन्त्र-विस्तार को देखने पर विष्णु एक निम्न कोटि के देवता के रूप मे ही प्रस्तुत किए गए मालूम पडते हैं। ऋग्वेद मे प्रयुक्त विष्णु-सम्बन्धी मन्त्र मूल मान लिए जाए तो ऋग्वेद मे वर्णित चिह्नों से वे सूर्य के ही अन्यतम प्रकार सिद्ध होते हैं। यास्क के शब्दो मे रश्मियों से व्याप्त होने के कारण अथवा रश्मियो से ससार को व्याप्त करने के कारण ही सूर्य 'विष्णु' के नाम से अभिहित होता है।[2]

ऋग्वेद में विष्णु शब्द का प्रयोग अनेकार्थ और विपुल है, किन्तु इसकी विशेषता यह है कि यह सर्वत्र एक दिव्य, महान् और व्यापक शक्ति का प्रतीक है।[3] विष्णु का वर्णन वेद मे इन्द्र के सहायक[4] देवता के रूप मे भी हुआ है और इन दोनों के पराक्रम का वर्णन एक साथ समान भाव से भी किया गया है।

वैदिक विष्णु जो आरम्भ मे गौण देवता हैं, ब्राह्मण-युग मे आकर महत्त्वपूर्ण बन जाते हैं। ब्राह्मण-ग्रंथो मे विष्णु की शक्ति का भी उत्तरोत्तर विकास वर्णित किया गया है। ब्राह्मण युग कर्म-प्रधान युग था और कर्म का प्रमुख अग था यज्ञ। यज्ञ ही सबसे बढ़कर पावन और श्रेयस्कर कर्म समझा गया था। अत: इस युग में विष्णु यज्ञ-रूप बन जाते हैं। (यज्ञो वै विष्णु)। शतपथब्राह्मण मे यज्ञ-निष्ठा, की दृष्टि से विष्णु को अग्रणी ठहराया गया है और विष्णु के अलौकिक दिव्य शक्तिपूर्ण चमत्कारो का भी कथा के रूप मे वर्णन मिलता है। ब्राह्मण ग्रंथो मे

---

१. 'इण्डियन फिलासफी', डा० राधाकृष्णन्, खण्ड १

२. 'यास्क-निरुक्त', १२।१६

३. 'आस्पेक्ट्स आव् अरली वैष्णविज़्म', जे० गोंडा, पृष्ठ ३
इस ग्रंथ के लेखक ने विष्णु के विविध रूपों का वर्णन विस्तारपूर्वक किया है।

४. *Vishnu in Vedas* (Volume of Studies in Indology presented to Mr. Kane) R. N. Dandeker, pp. 90

विष्णु की व्यापकता इस बात की द्योतक है कि देवताओं में इन्द्र की जैसी प्रधानता ऋचाओं में थी, वैसी ही प्रधानता धीरे-धीरे विष्णु को प्राप्त होने लगी थी और एक प्रकार से इन्द्र का स्थान विष्णु ने ग्रहण करना प्रारम्भ कर दिया था। विष्णु शब्द के देवता अभिधान का यह क्रमिक विकास ही समझना चाहिए।[1] कुछ विद्वानों ने तो विष्णु के अवतारों की सूची भी ब्राह्मण ग्रंथों में ढूंढ़ निकाली है।[2]

वेद में भक्ति

वैदिक साहित्य में भक्ति-भावना के स्वरूप पर विचार करें तो पता चलेगा कि वेद संहिता और ब्राह्मण ग्रंथों में प्रत्यक्ष रूप से अनुराग[3]-सूचक भक्ति शब्द का प्रयोग कहीं भी नहीं हुआ है और भक्ति शब्द द्वारा साक्षात् उपासना का भी लक्ष्य नहीं कराया गया है। लेकिन अनेक भारतीय इतिहासकारों और अन्य विद्वानों ने भक्ति का मूल वेद में ढूंढने का प्रयत्न किया है। 'भारतीय भक्ति-सम्प्रदाय का आदि स्रोत ऋग्वेद है' तक की घोषणा की गई है, परन्तु जहां तक ऋग्वैदिक काल का सम्बन्ध है, 'ऋग्वेद' की ऋचाएं वस्तुस्थिति के स्पष्टीकरण के लिए पर्याप्त हैं। जिन विद्वानों ने ऋग्वेद में भक्ति के तत्त्व प्रमाणित करने की चेष्टाएं की हैं, उन्होंने ऐसे उद्धरण प्रस्तुत किए हैं जिनमें किसी देवता को माता-पिता का सखा[4] आदि सम्बन्धों से युक्त किया गया है अथवा कुछ ऐसी ऋचाएं ली गई हैं जिनमें देवता विषयक रागात्मक तत्त्वों की झलक मिलती है।[5] ऐसी भी ऋचाओं का उल्लेख किया गया है, जिनमें 'स्तुति' और 'नाम स्मरण' की बात की गई है। इस प्रकार अनेक विद्वानों ने नवधा-भक्ति के मूल तत्त्वों का मूल 'ऋग्वेद' में ढूंढने का प्रयास किया है। ऐसे विद्वानों ने ऋग्वेद में मिलने वाले कुछ शब्दों को ही अपने अनुमान के आधार बनाए हैं। वास्तव में शब्द-साम्य अमहत्त्वपूर्ण है। प्रमाणस्वरूप वैदिक साहित्य में प्रयुक्त 'श्रद्धा' और 'भक्ति' शब्दों के प्रयोगों को लें तो पता चलेगा कि ये शब्द 'श्रद्धा' और 'भक्ति' के वर्तमान अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुए हैं।[6] 'भज' धातु के जितने भी प्रयोग वैदिक साहित्य में हुए हैं, वे 'भक्ति' के परवर्ती अर्थ के रूप में कदापि नहीं हैं। अनुराग या अनुरक्ति के अर्थ में कहीं भी इस शब्द का प्रयोग वैदिक साहित्य में नहीं किया गया है। 'भक्ति' शब्द का प्रेममूलक अर्थ केवल पाणिनि तथा यास्क के समय से ही लिया जाने लगा।[7]

---

१. 'शतपथब्राह्मण' में विष्णु के पराक्रम की कथा—१४।१।१
२. 'भागवत सम्प्रदाय', बलदेव उपाध्याय, पृष्ठ ८२
३. "सा परानुरक्तिरीश्वरे—"
४. "सखा पिता पितृतमः पितृणां कर्तेमु लोकमुशते वयोधाः ॥"—ऋ० ४।१७।१७
५. 'ऋग्वेद'—१०।४०।२
६. 'इण्डिया हिस्टारिकल क्वार्टर्ली', १९३०
७. 'भज' और 'भक्त' शब्द की व्याख्या के लिए देखें—
Journal of Royal Asiatic Society. 1910, pp. 861-62 & J. R. A. S. 1911, pp. 194, 727-38.

ऋग्वैदिक देवताओं और उनके उपासकों के बीच रागात्मक या भावात्मक सम्बन्धों पर विचार करें तो पता चलेगा कि यद्यपि ऋग्वैदिक आर्य अपने देवताओं को शक्तिशाली, पराक्रमी आदि के साथ दयावान् और कल्याणमय मानते रहे और ऐसी अवस्था में उनके प्रति 'श्रद्धा' का भाव रखते थे, तो भी जिस 'रागात्मक सम्बन्ध' की अपेक्षा भक्ति में की जाती है, उसका नितान्त अभाव है। इतिहासकारों और साहित्याचार्यों ने 'ऋग्वेद' में जिस भक्ति-भावना का दर्शन किया है वह समस्त मानव जाति के प्रारम्भिक धर्मों में किसी न किसी रूप में उपलब्ध है और यदि भक्ति के सामान्य अर्थ को लिया जाए, न कि उस भक्ति-विशेष को जो उपनिषत् काल से आरम्भ होकर मध्यकाल तक अपनी चरम पराकाष्ठा पर पहुंचती है और जिसमें प्रेम और निष्काम भाव का ही प्राधान्य है, तो उसे ऋग्वेद में भी मानने में कोई आपत्ति नहीं है। चूंकि वैष्णव भक्ति के मूलाधार विष्णु ही हैं, अतः भक्ति की प्राचीनता सिद्ध करने के लिए 'वैदिक विष्णु' को भी 'मध्यकालीन विष्णु' की दृष्टि से देखने की चेष्टा कुछ विद्वानों ने की है।[1] वैष्णव भक्ति को प्राचीनतम सिद्ध करने के पीछे, वेद को अन्तिम प्रमाण मानने का कुछ विद्वानों का स्वाभाविक आग्रह ही दिखाई देता है। वेद काल से लेकर मध्य युग तक विष्णु की जो स्थिति है, उसे देखकर उनकी कई विकास-अवस्थाओं की उपेक्षा नहीं कर सकते।

उपनिषदों में वैष्णव भक्ति

'ऋग्वेद' में प्रमुखतः दो प्रकार के विषय हैं—कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड। कर्मकाण्ड का विकास ब्राह्मणों में और ज्ञान-काण्ड का विकास उपनिषदों में हुआ है। ब्राह्मणों ने कर्मकाण्डों के विस्तार में सराहनीय योग दिया है और आरण्यकों ने ज्ञान के पूर्ण विकास के लिए ऋग्वैदिक अंकुर को सुरक्षित रखा है। ये आरण्यक ही उपनिषदों से पहले की कड़ी हैं।

उपनिषदों की संख्या अनंत है,[2] उपनिषत्कार भी अगणित हैं और रचना-काल भी लम्बी अवधि का है।

'ऋग्वेद युग' ही अकेले एक सहस्र वर्षों की चिन्तनधारा का प्रतिनिधित्व करता है और जहां उसमें यज्ञीय कर्मकाण्डों के प्रतिपादक ऋचा-निर्माताओं का ऊंचा स्वर था, वहीं कालान्तर में कुछ ऐसे भी ऋषि हुए जिन्होंने सत्यान्वेषण की जिज्ञासा प्रकट की। इसी जिज्ञासा का प्रतिफल है, 'उपनिषद्'। उपनिषत्कारों में कुछ कट्टर ज्ञानवादी हैं और वैदिक कर्मकाण्डों के इतने असहिष्णु विरोधी हैं कि अनेक स्थलों पर इन्होंने वेद की उपेक्षा तक की है। कुछ ऐसी भी उपनिषदें हैं

---

१ 'विष्णुर्गोपा अदाभ्य' ('ऋग्वेद' १।२२।१८) अर्थात् 'विष्णु अजेय गोप हैं'—के आधार पर वैदिक विष्णु को 'मध्यकालीन विष्णु' के रूप में देखने की चेष्टा हुई है। द्रष्टव्य—'भागवत सम्प्रदाय'—बलदेव उपाध्याय, पृ० ७८-७९।

२ प्रमुख उपनिषदों में 'छान्दोग्य', 'बृहदारण्यक', 'कठ', 'ईश', 'श्वेताश्वतर', 'तैत्तिरीय', 'मुण्डक', 'माण्डूक्य' तथा 'केन' उपनिषदों के नाम लिए जाते हैं।

जिन्होंने मधुर उपासना के लिए थोड़ी-बहुत जगह दे रखी है, पर निश्चित रूप से उनकी रचना बहुत बाद में हुई—कम से कम महाभारत युग के ठीक पूर्ववर्ती युग में।[1] श्वेताश्वतर उपनिषद् इसी कोटि की है। 'मुण्डक'[2] उपनिषद् में एक स्थान पर यज्ञीय कर्मकाण्ड को श्रेयस्कर माननेवालों को मूढ़ तक घोषित किया गया है और स्वर में स्वर मिलाते हुए 'बृहदारण्यक'[3] में देवों को आहुति देनेवालों की तुलना उन पशुओं से की गई है जो अपने स्वामी के लाभ के लिए कार्य करते हैं। इस विवरण से यह स्पष्ट होगा कि उपनिषद् युग तक आते-आते आर्यों ने धर्म के बाह्य उपकरणों को अधिकाधिक विकसित कर लिया था, जिसमें प्रवृत्ति-मार्ग का प्राधान्य था, साथ ही निवृत्ति मार्ग मूलक तप और ज्ञान के लिए भी पृष्ठभूमि तैयार होने लगी थी।

ब्रह्म-सान्निध्य के लिए ज्ञान की उपादेयता स्वीकार करते हुए भी ऋषियों को भक्ति की अनिवार्यता प्रतीत हुई और श्वेताश्वतर उपनिषद् में सर्वप्रथम भक्ति का महत्त्व सूचित किया गया है :

यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥
(श्वेताश्वतर उपनिषद् ६।२३)

इसी उपनिषद् में 'मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये' कहकर शरणागति भाव की ओर भी स्पष्ट संकेत किया गया है। भक्ति का जो रूप भक्ति विषयक 'महाभारत' और 'गीता' में मिलता है, वह उपनिषदों की भक्ति से पर्याप्त साम्य रखता है। उपनिषदों की भक्ति में आडम्बर नहीं है, बल्कि अन्तस्साधना पर अधिक बल है। उसमें सत्यान्वेषण की जिज्ञासा है और उनमें सर्वोपरि है गुरु का महत्त्व, जिसके बिना ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। गुरु के महत्त्व को सभी धर्म सम्प्रदायों ने स्वीकार किया है, यह निर्विवाद सत्य है, और जहां उपनिषदों ने गुरु के महत्त्व को बढ़ाया है, वहीं वे सगुण पूजा को अप्रत्यक्ष रूप में प्रभावित करके भक्ति-भावना का सुदृढ़ीकरण ही करती हैं।[4] 'कठोपनिषद्' के कुछ मन्त्र निश्चित रूप से भक्ति-भावना को उत्प्रेरित करते हैं।[5] इन्हीं भावनाओं को 'मुण्डक' द्वारा बल मिलता है और उपासक और उपास्य के निकट सम्बन्धों की भूमिका सृजित होने लगती है।[6] पर इस दिशा में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण योगदान श्वेताश्वतर उपनिषद् का है जिसने सगुणोपासना का मार्ग अप्रत्यक्ष रूप से प्रदर्शित किया है। 'श्वेताश्वतर' उपनिषद् (६।१८) से हमें सगुण ब्रह्म की झलक मिल जाती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि उपनिषदों में भी उस सर्वशक्तिमान् सृष्टिकर्त्ता परमात्मा की

---

१. 'भक्ति आन्दोलन का अध्ययन'—डा० रतिभानुसिंह 'नाहर', पृ० २९-३०
२ 'मुण्डक' उपनिषद्, १।२।७
३. 'बृहदारण्यक' १।४।१०
४. 'भक्ति-आन्दोलन का अध्ययन'—डा० रतिभानुसिंह 'नाहर', पृ० ३३
५. 'कठोपनिषद्' १।३।१५, २।२।९-११, १।३।१, २।२।३ आदि
६. 'मुण्डकोपनिषद्' १।१।६, ३।२।८, ३।१।३, २।१।१ आदि

ऋग्वैदिक देवताओं और उनके उपासकों के बीच रागात्मक या भावात्मक सम्बन्धों पर विचार करें तो पता चलेगा कि यद्यपि ऋग्वैदिक आर्य अपने देवताओं को शक्तिशाली, पराक्रमी आदि के साथ दयावान् और कल्याणमय मानते रहे और ऐसी अवस्था में उनके प्रति 'श्रद्धा' का भाव रखते थे, तो भी जिस 'रागात्मक सम्बन्ध' की अपेक्षा भक्ति में की जाती है, उसका नितान्त अभाव है। इतिहासकारों और साहित्याचार्यों ने 'ऋग्वेद' में जिस भक्ति-भावना का दर्शन किया है वह समस्त मानव जाति के प्रारम्भिक धर्मों में किसी न किसी रूप में उपलब्ध है और यदि भक्ति के सामान्य अर्थ को लिया जाए, न कि उस भक्ति-विशेष को जो उपनिषत् काल से आरम्भ होकर मध्यकाल तक अपनी चरम पराकाष्ठा पर पहुंचती है और जिसमें प्रेम और निष्काम भाव का ही प्राधान्य है, तो उसे ऋग्वेद में भी मानने में कोई आपत्ति नहीं है। चूंकि वैष्णव भक्ति के मूलाधार विष्णु ही हैं, अतः भक्ति की प्राचीनता सिद्ध करने के लिए 'वैदिक विष्णु' को भी 'मध्यकालीन विष्णु' की दृष्टि से देखने की चेष्टा कुछ विद्वानों ने की है।[1] वैष्णव भक्ति को प्राचीनतम सिद्ध करने के पीछे, वेद को अन्तिम प्रमाण मानने का कुछ विद्वानों का स्वाभाविक आग्रह ही दिखाई देता है। वेद काल से लेकर मध्य युग तक विष्णु की जो स्थिति है, उसे देखकर उनकी कई विकास-अवस्थाओं की उपेक्षा नहीं कर सकते।

उपनिषदों में वैष्णव भक्ति

'ऋग्वेद' में प्रमुखतः दो प्रकार के विषय हैं—कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड। कर्मकाण्ड का विकास ब्राह्मणों में और ज्ञान-काण्ड का विकास उपनिषदों में हुआ है। ब्राह्मणों ने कर्मकाण्डों के विस्तार में सराहनीय योग दिया है और आरण्यकों ने ज्ञान के पूर्ण विकास के लिए ऋग्वैदिक अंकुर को सुरक्षित रखा है। ये आरण्यक ही उपनिषदों से पहले की कड़ी हैं।

उपनिषदों की संख्या अनंत है,[2] उपनिषत्कार भी अगणित हैं और रचना-काल भी लम्बी अवधि का है।

'ऋग्वेद युग' ही अकेले एक सहस्र वर्षों की चिन्तनधारा का प्रतिनिधित्व करता है और जहां उसमें यज्ञीय कर्मकाण्डों के प्रतिपादक ऋचा-निर्माताओं का ऊंचा स्वर था, वहीं कालान्तर में कुछ ऐसे भी ऋषि हुए जिन्होंने सत्यान्वेषण की जिज्ञासा प्रकट की। इसी जिज्ञासा का प्रतिफल है, 'उपनिषद्'। उपनिषत्कारों में कुछ कट्टर ज्ञानवादी हैं और वैदिक कर्मकाण्डों के इतने असहिष्णु विरोधी हैं कि अनेक स्थलों पर इन्होंने वेद की उपेक्षा तक की है। कुछ ऐसी भी उपनिषदें हैं

---

१ 'विष्णुर्गोपा अदाभ्य' ('ऋग्वेद' १।२२।१८) अर्थात् 'विष्णु अजेय गोप हैं'—के आधार पर वैदिक विष्णु को 'मध्यकालीन विष्णु' के रूप में देखने की चेष्टा हुई है। द्रष्टव्य—'भागवत सम्प्रदाय'—बलदेव उपाध्याय, पृ० ७८-७९।

२ प्रमुख उपनिषदों में 'छान्दोग्य', 'बृहदारण्यक', 'कठ', 'ईश', 'श्वेताश्वतर', 'तैत्तिरीय', 'मुण्डक', 'माण्डूक्य' तथा 'केन' उपनिषदों के नाम लिए जाते हैं।

जिन्होंने मधुर उपासना के लिए थोड़ी-बहुत जगह दे रखी है, पर निश्चित रूप से उनकी रचना बहुत बाद में हुई—कम से कम महाभारत युग के ठीक पूर्ववर्ती युग में।[1] श्वेताश्वतर उपनिषद् इसी कोटि की है। 'मुण्डक'[2] उपनिषद् में एक स्थान पर यज्ञीय कर्मकाण्ड को श्रेयस्कर माननेवालों को मूढ़ तक घोषित किया गया है और स्वर में स्वर मिलाते हुए 'बृहदारण्यक'[3] में देवों को आहुति देनेवालों की तुलना उन पशुओं से की गई है जो अपने स्वामी के लाभ के लिए कार्य करते हैं। इस विवरण से यह स्पष्ट होगा कि उपनिषद् युग तक आते-आते आर्यों ने धर्म के बाह्य उपकरणों को अधिकाधिक विकसित कर लिया था, जिसमें प्रवृत्ति-मार्ग का प्राधान्य था, साथ ही निवृत्ति मार्ग मूलक तप और ज्ञान के लिए भी पृष्ठभूमि तैयार होने लगी थी।

ब्रह्म-सान्निध्य के लिए ज्ञान की उपादेयता स्वीकार करते हुए भी ऋषियों को भक्ति की अनिवार्यता प्रतीत हुई और श्वेताश्वतर उपनिषद् में सर्वप्रथम भक्ति का महत्व सूचित किया गया है :

यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥
(श्वेताश्वतर उपनिषद् ६।२३)

इसी उपनिषद् में 'मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये' कहकर शरणागति भाव की ओर भी स्पष्ट संकेत किया गया है। भक्ति का जो रूप भक्ति विषयक 'महाभारत' और 'गीता' में मिलता है, वह उपनिषदों की भक्ति से पर्याप्त साम्य रखता है। उपनिषदों की भक्ति में आडम्बर नहीं है, बल्कि अन्तस्साधना पर अधिक बल है। उसमें सत्यान्वेषण की जिज्ञासा है और उनमें सर्वोपरि है गुरु का महत्त्व, जिसके बिना ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। गुरु के महत्व को सभी धर्म सम्प्रदायों ने स्वीकार किया है, यह निर्विवाद सत्य है, और जहां उपनिषदों ने गुरु के महत्त्व को बढ़ाया है, वहीं वे सगुण पूजा को अप्रत्यक्ष रूप में प्रभावित करके भक्ति-भावना का सुदृढ़ीकरण ही करती हैं।[4] 'कठोपनिषद्' के कुछ मन्त्र निश्चित रूप से भक्ति-भावना को उत्प्रेरित करते हैं।[5] इन्हीं भावनाओं को 'मुण्डक' द्वारा बल मिलता है और उपासक और उपास्य के निकट सम्बन्धों की भूमिका सृजित होने लगती है।[6] पर इस दिशा में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण योगदान श्वेताश्वतर उपनिषद् का है जिसने सगुणोपासना का मार्ग अप्रत्यक्ष रूप से प्रदर्शित किया है। 'श्वेताश्वतर' उपनिषद् (६।१८) से हमें सगुण ब्रह्म की झलक मिल जाती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि उपनिषदों में भी उन सर्वशक्तिमान् सृष्टिकर्त्ता परमात्मा की

---

१. 'भक्ति आन्दोलन का अध्ययन'—डा० रतिभानुसिंह 'नाहर', पृ० २६-३०
२. 'मुण्डक' उपनिषद्, १।२।७
३. 'बृहदारण्यक' १।४।१०
४. 'भक्ति-आन्दोलन का अध्ययन'—डा० रतिभानुसिंह 'नाहर', पृ० ३३
५. 'कठोपनिषद्' १।३।१४, २।२।६-११, १।३।१, २।२।३ आदि
६ 'मुण्डकोपनिषद्' ३।१।६, ३।२।८, ३।१।३, २।१।१ आदि

कल्पना की जाने लगी थी जो अव्यक्त के साथ व्यक्त भी है। उसकी उदारता, दयालुता आदि की भी कल्पना की गई थी, जिससे भक्ति का अंकुर पल्लवित होने का अवसर मिला। बस, यहीं से हम भक्ति का उद्भव मान सकते हैं।[1]

उपनिषदों की भक्ति-भावना के विषय में डा० रतिभानुसिंह ने लिखा है कि "अनेक उपनिषदो मे लोकमत को मान्यता प्रदान करने की चेष्टा की गई है। यद्यपि हमे तत्कालीन लोकमत का स्पष्ट विवरण अलग से नहीं मिलता, तो भी इतना सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि उपनिषद्-युग तक आते-आते मध्यदेश में आर्यों और अनार्यों का सम्मिश्रण और निकट का सम्पर्क स्थापित हो चुका था और उनका सांस्कृतिक जीवन परस्पर प्रभावित होता जा रहा था और यह जीवन निश्चय ही सर्वत्र और सर्वथा शास्त्रोक्त विधि से अनुशासित नहीं रहा होगा। साथ ही स्थानीय देवी-देवताओ से लोक-जीवन का अपेक्षाकृत निकट का सम्बन्ध रहा होगा जिसमे भावनाओ और संवेगो का अश अधिक होता है। शास्त्र-प्रणेताओ को लोकमत के साथ निश्चय ही कही-कही चलना पड़ा है। यही कारण है कि कुछ उपनिषदो मे ईश्वर के व्यक्त और अव्यक्त एव उदार रूप की ओर संकेत किया गया है।"[2]

प्रस्तुत लेखक का विचार भी डा० रतिभानुसिंह के उपर्युक्त विचार से मेल खाता है। प्रस्तुत लेखक के विचार में उपनिषत् काल मे आर्य और द्राविड संस्कृतियो का सपर्क शुरू हुआ होगा और द्राविड़ अर्थात् तमिल की प्राचीन भक्ति-परम्परा से परवर्ती उपनिषदो का थोड़ा-बहुत सम्बन्ध अवश्य रहा होगा। भक्ति-भावना के उद्भव पर प्रकाश डालने वाले विद्वानों ने भी भक्ति-भावना को पूर्णतः द्रविडों की देन माना है। भारतीय धर्म-साधना पर लिखते हुए अपने विशिष्ट ग्रन्थ 'हिन्दू एव बौद्ध धर्म' मे सर चार्ल्स इलियट ने स्पष्ट रूप से कहा है कि भारतीय धार्मिक भावना का आदि स्रोत वह पुरातन द्राविडीय सभ्यता है जिसके साथ आर्यों का सम्पर्क एव समन्वय भारत मे आने के पश्चात् स्थापित हुआ। श्री दिनकर भी अपने ग्रंथ 'संस्कृति के चार अध्याय' मे लिखते हैं—

"वैष्णव मत में भक्ति की जो प्रधानता है, वह मुख्यत द्रविडो की देन है। आर्यों की प्रारभिक धर्म-भावना कर्मकाण्ड और यज्ञ तक ही सीमित थी। उनके प्रारभिक साहित्य से उनकी भावुकता का तो प्रमाण मिलता है, किन्तु इसका प्रमाण नहीं मिलता कि वे भक्त भी थे। भक्ति असल मे आर्यों के पूर्व ही इस देश में थोड़ी-बहुत विकसित हो चुकी थी और आर्यों का ध्यान उसकी ओर तब गया जब वे कर्मकाण्ड से कुछ थकने-से लगे।"[3]

भक्ति-भावना के विकास के इतिहास मे उपनिषदो का बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। सभी परवर्ती चिन्तकों ने उपनिषदों से ही अपना कदम बढाया है। भक्ताचार्यों को भी यहीं से आगे बढ़ना पड़ा है। हमारे परवर्ती भक्ति-साहित्य में

१ 'भक्ति-आन्दोलन का अध्ययन', पृ० ३४

२ वही, पृ० ३८

३. 'संस्कृति के चार अध्याय' (द्वि० सं०), श्री रामधारीसिंह 'दिनकर', पृ० ८८

ने इस प्रकार बताया है—"विद्या तथा अविद्या इन दोनों के सहारे जो लोग आत्म तत्त्व को जानते हैं, वे उस आत्म तत्त्व के द्वारा अविद्या से मृत्यु को पार कर विद्या से अमृत को पाते हैं।" इन्द्रियों को वश में रखने का बहुत सुन्दर वर्णन 'कठोपनिषद्' में इस प्रकार मिलता है—"जो व्यक्ति अविवेकी और चचल मन वाला होता है, उसकी इन्द्रिया सारथि के बिगड़ैल घोड़े की तरह कभी वश मे नहीं रहती, किन्तु जो विवेकी एव स्थिर चित्त होता है, उसकी इन्द्रियां सावधान सारथि के सधे-सधाए घोड़ों की तरह सदैव काबू में रहती हैं। सत्य और ज्ञान का अटूट सम्बन्ध उपनिषदो मे अनेक स्थानों पर दिखाया गया है और यह घोषित किया गया है कि सत्य की ही विजय होती है, असत्य की पराजय। 'श्वेताश्वतर' उपनिषद् में भगवत्प्राप्ति के साधनों में श्रद्धा-भक्ति को विशेष महत्त्व दिया गया है। इतना ही नहीं, इसने अप्रत्यक्ष रूप से दास्य भाव की भी प्रेरणा दी है। इसी उपनिषद में एक स्थान पर कहा गया है—"परमात्मा शरीर रहित है और ससार का उत्पादक और सहारक है। ऐसा होते हुए भी वह परमानन्द परमात्मा श्रद्धा और भक्ति के द्वारा ग्रहण किया जा सकता है।"

उपनिषदो की विचारधारा का सक्षिप्त परिचय देने का हमारा विशेष तात्पर्य यह है कि उपनिषदो के ये ही विचार परवर्ती सभी भक्ति ग्रन्थो मे बिखरे पड़े है। उन भक्ति-ग्रंथो का भी जिन्होने भक्ति-आन्दोलन को प्रेरित किया है और मार्ग-दर्शन कराया है, इन उपनिषदिक विचारो के प्रति ऋण है।[1]

महाकाव्य-काल में वैष्णव-भक्ति

उपनिषदो के बाद सूत्र-साहित्य का निर्माण हुआ। सूत्रों मे व्याकरण ग्रन्थ पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' का उपयोग भक्ति की खोज के सम्बन्ध में किया गया है। इस युग के धर्म-सूत्रों मे भक्तिपरक कुछ सामग्री मिलती है जिससे उपनिषदो-परान्त भक्ति के क्रमिक विकास का स्वरूप आभासित होता है। सूत्रोत्तर काल में भक्ति का प्रचार और प्रसार करने वाले दो महान् ग्रन्थ है—'महाभारत' और 'रामायण'। रामायण की तिथि का निर्णय करने मे विद्वानो मे मतैक्य नही

१. उपनिषदों के बहुत-से विचार तमिल के अति प्राचीन भक्ति-साहित्य में मिल जाते हैं। तमिल-प्रदेश की भक्ति-परम्परा के अध्ययन के सन्दर्भ मे इस विषय पर सम्यक् प्रकाश डाला गया है। प्रस्तुत लेखक का अनुमान है कि ईसा की आठ-नौ शताब्दियो के पूर्व ही आर्यो और द्राविड लोगो की सस्कृतियों के सपर्क की प्रक्रिया प्रारम्भ हो गई थी और उपलब्ध प्राचीन तमिल-भक्ति-साहित्य के आधार पर यह कहा जा सकता है कि उपनिषत् काल से ही दोनो की विचारधाराओ का आदान-प्रदान होने लगा था। यह कहना कठिन है कि दोनो धाराओ की मिलन-रेखा कहां से प्रारम्भ होती है। फिर भी इतना तो स्पष्ट कहा जा सकता है कि उपनिषत् काल से ही दोनो पर पारस्परिक प्रभाव पडना शुरू हो गया था। उपनिषदो का काल सामान्यत ई० पू० दसवी या नवीं शताब्दी माना गया है। तमिल का प्राचीनतम उपलब्ध ग्रन्थ 'तोलकाप्पियम्' है, जिसका रचनाकाल ई० पू० पाचवी शती माना गया है और जिसमें तमिल-प्रदेश की अति प्राचीन भक्ति-परम्परा की झाकी मिल जाती है।

है। इन दोनों में कौन अधिक प्राचीन है, इस विषय में भी विद्वानों में मतभेद हैं। अधिकांश विद्वान् 'रामायण' को महाभारत से पूर्ववर्ती स्वीकार करते हैं, और यह भी मानते हैं कि 'रामायण' में प्रक्षिप्तांश अपेक्षाकृत कम हैं, जब कि 'महाभारत का कलेवर प्रक्षिप्तांशों से काफी बढ़ गया है। 'महाभारत' के रचना-काल के विषय में अधिकांश विद्वान् यही मानते हैं कि यह अपने उपलब्ध रूप में ई० पू० सातवीं शताब्दी से लेकर ई० पू० दूसरी शताब्दी की रचना है।

'महाभारत' का महत्व भक्ति-आन्दोलन के इतिहास में बहुत अधिक है। 'महाभारत' के 'वैष्णव धर्म पर्व' (आदि पर्व और शान्ति पर्व) द्वारा वैष्णव भक्ति के प्राचीन इतिहास को न केवल आगे बढ़ाया गया है, बल्कि शताब्दियों की लौकिक भक्ति-परम्परा को सर्वप्रथम इसी ग्रंथ में लिपिबद्ध करके उसे शास्त्रानुमोदित और प्राचीन प्रमाणित करने की प्रबल चेष्टा की गई है। पुराणकारों ने भी अधिकांशतः 'महाभारत' की सामग्री का ही उपयोग किया है।

'महाभारत' में शान्ति पर्व के अंतिम अठारह अध्यायों में और भीष्म पर्व में वर्णित 'नारायणीयोपाख्यान' में भागवत,[1] सात्वत[2], नारायण[3] या पांचरात्र[4] धर्म का उल्लेख है। इसका आशय वास्तव में यही है कि 'महाभारत' में इन विविध नामों से अभिहित धर्मों को एक ही धर्म की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के रूप में अथवा इन विविध नामधारी धर्मों को परंपरागत वैष्णव धर्म के साथ जोड़ने का प्रयत्न ही हुआ है।

'महाभारत' में कृष्ण ने अपने जिन असंख्य नामों का उल्लेख किया है, उनमें से अधिकांश नाम तो वैदिक और उत्तर वैदिक ही हैं, जैसे विष्णु, नारायण आदि; परन्तु कुछ सर्वथा नवीन भी हैं जैसे—दामोदर, कृष्ण, गोविन्द, माधव और वृष्णिवशीय'। ये नाम प्राचीन परंपरा को आगे बढ़ाते हैं और इस बात का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं कि भागवतों के आदि देव विष्णु का विस्तार नाम और महत्व दोनों दृष्टियों से होता जा रहा था।

'महाभारत' के शान्ति पर्व में लम्बे कथानक की अवतारणा करके भागवत धर्म को दिव्य धर्म के रूप में वर्णित किया गया है। इसी प्रसंग में कहा गया है कि नारद श्वेत द्वीप में आकर भगवान् के दर्शन करते हैं और भगवान् नारद को अपने वासुदेव धर्म का स्वरूप समझाते हैं। इस अध्याय में परमात्मा को वासुदेव, जीवन को संकर्षण, मन को प्रद्युम्न और अहंकार को अनिरुद्ध बताया गया है। ऐतिहासिक दृष्टि से वासुदेव स्वयं कृष्ण हैं, संकर्षण उनके ज्येष्ठ भ्राता बलराम हैं, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध श्रीकृष्ण के पुत्र हैं। वासुदेव शब्द का प्रयोग संहिता या ब्राह्मण भाग में नहीं है। हाँ, तैत्तिरीय आरण्यक के दसवें प्रपाठक में यह शब्द एक स्थल पर विष्णु के पर्यायवाची के रूप में ही आया है। किन्तु इस

१. 'महाभारत', शान्ति पर्व, ३३७
२. वही, ३३५ : १६
३. वही, ३४८ : ८२-८३
४. वही, ३३६ : २५

धर्म उसी समय से कहा जाने लगा था। अतः भागवत, वासुदेवक व सात्वत धर्म एक ही धर्म के द्योतक हैं। 'शतपथ'[1] और 'ऐतरेय'[2] ब्राह्मणों में भी सात्वतों का उल्लेख है। सात्वतों और वृष्णियों को एक माना जा सकता है। इसी सात्वत या वृष्णि वंश में ही कृष्ण का जन्म हुआ। उत्तर भारत के शूरसेन मण्डल को सात्वत का निवास-स्थान माना गया है। डा० एस० कृष्णस्वामी अय्यंगार का मत है कि जब जरासन्ध के नेतृत्व में प्राच्य नरेशों ने सात्वतों पर आक्रमण किया तो उन्हें शूरसेन प्रदेश छोड़कर भारत के पश्चिमी समुद्र तट पर जाकर अपने उपनिवेश स्थापित करने पड़े। यहीं से इन्होंने विदर्भ, मैसूर तथा सुदूर द्राविड़ प्रदेशों की ओर बढ़ना आरंभ किया जहां की राजनीतिक परिस्थिति इनके अनुकूल सिद्ध हुई।[3]

प्रायः सभी विद्वान् यह मानते हैं कि कृष्ण आदि देवता नहीं थे और उन्हें देवत्व प्रदान करने की घटना उनके जीवन-काल के बाद की है। कृष्ण एक उपदेशक या धर्म-सुधारक थे। 'छान्दोग्य' उपनिषद् और गीता के उपदेशों की समानता हमें कृष्ण को उपदेशक मानने के लिए प्रेरित करती है। इस संदर्भ में श्री बार्थ का मत भी ध्यान देने योग्य है—

"महाकाव्य 'महाभारत' में विष्णु को यह उच्च सम्मानित पद पूर्णतया प्राप्त है, किन्तु उसी समय एक नायक मानवी देवता कृष्ण का आविर्भाव होता है जिसे विष्णु का अवतार घोषित किया गया है और वह व्यक्ति, जिसकी वेदों में कोई चर्चा तक नहीं है, निस्सन्देह एक लोक-प्रचलित देवता है। निष्कर्ष यह है कि विष्णु की प्रभुत्व-प्राप्ति और कृष्ण के साथ उनके समीकरण, इन दोनों में सम्बन्ध है। ऐसा जान पड़ता है कि विष्णु की प्रधानता का कारण लोक-प्रचलित देवता (कृष्ण) के साथ उसका समीकरण था।"[4]

श्री हाप्किन्स का भी मत है कि "कृष्ण एक साम्प्रदायिक देवता थे और उन्हें कालान्तर में विष्णु का रूप दे दिया गया।"[5] प्रस्तुत लेखक के विचार में उपर्युक्त दोनों विद्वानों के मत निराधार नहीं हैं, यद्यपि कुछ विद्वानों ने इनके मतों का खण्डन किया है। आर्य और द्राविड संस्कृतियों के मिलने पर आर्य-देवता, विष्णु का एकीकरण (समीकरण) तमिल-देवता 'मायोन' से हो जाता है। (इसका विशद विवरण आगे 'तमिल भक्ति-परम्परा' के प्रसंग में दिया गया है।) 'मायोन' तमिलों के लोक-देवता थे। अतः संभव है कि इसी लोक-देवता को

१. 'शतपथ,' १३, ५, ४, २१
२. 'ऐतरेय,' ८, १४, ३
३. Proceedings of the Oriental Confe...
४.
५.

कालान्तर में विष्णु के साथ जोड दिया गया हो।[1]

गीता में भक्ति का स्वरूप

'श्रीमद्‌भगवद्‌गीता'[2] महाभारत का ही एक अंग माना जाता है। यद्यपि इन दोनों के वर्तमान प्राप्य रूपों की अवधियों में कुछ शताब्दियों का अन्तर दिखाई पड़ता है, तो भी सांस्कृतिक परिस्थितियों की दृष्टि से विशेष अन्तर नही पड़ता। 'गीता' का प्रभाव न केवल प्रायः सभी परवर्ती दर्शन-ग्रन्थो पर पड़ा, बल्कि अनेक साहित्यिक और पौराणिक ग्रंथों पर भी इसकी अमिट छाप पड़ी है। डॉ० बी० एम० बरुआ ने गीता को 'विश्वास तत्त्व' की प्रमुखता की दृष्टि से भक्ति का ग्रंथ स्वीकार किया है।[3] गीता को कर्मयोग सिद्ध करने वाले श्री बाल गंगाधर तिलक भी गीता मे भक्ति-तत्त्व की पूर्णता स्वीकार करते है और उनकी मान्यता है कि निष्काम कर्म की साधना के साथ भक्ति की श्रेष्ठता का ज्ञान भी गीता से ही होता है।[4]

'गीता' में ज्ञान, कर्म और भक्ति तीनो धर्म-साधनाओं का समुचित विवेचन होते हुए भी, अन्त मे भक्ति को सर्वोपरि ठहराया गया है। कृष्ण अर्जुन से कहते हैं—"मेरे जिस रूप को तुमने देखा है, उसका दर्शन अत्यन्त कठिन है। देवता लोग भी इस रूप को देखने की इच्छा रखते हैं। न वेदों से, न तप से, न दान से, न यज्ञ से मैं इस प्रकार देखा जा सकता हू जैसा कि तुमने देखा है। केवल अनन्य भक्ति से ही मैं इस प्रकार तत्त्वतः जाना, देखा और प्रवेश किया जा सकता हूं।"[5] कृष्ण आगे अर्जुन को "सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज" का उपदेश देते हैं जो इस बात का सबल प्रमाण है कि कृष्ण ने जिन-जिन साधना-पद्धतियो का विवेचन 'गीता' मे किया है, उन सबके ऊपर भक्ति है, और वह भक्ति शरणागति भाव की भक्ति है।

गीता के बारहवें अध्याय मे सगुण और निर्गुण दोनों प्रकार की भक्ति का सुन्दरतम समन्वय करते हुए कृष्ण ने सगुण भक्ति को इसलिए महत्त्व दिया है कि यह सर्वसाधारण द्वारा साध्य है जब कि निर्गुण भक्ति केवल ज्ञानी पुरुषो के लिए ही है। भक्ति-मार्ग को सरलतम बताते हुए और साथ ही सगुण भक्ति पर बल देते हुए कृष्ण अर्जुन से कहते है —

---

1. यहा एक प्रमुख बात की ओर ध्यान देना आवश्यक है कि 'महाभारत' के कृष्ण में कहीं भी गोपालकृष्ण के चरित्र का और उनकी विविध लीलाओं का चित्रण नही है। महाभारत के उपदेशक कृष्ण के साथ गोपालकृष्ण का अंश बाद मे जुड़ा और उसमे तमिल-प्रदेश का योगदान रहा है। इस तथ्य का निरूपण आगे किया गया है।

'गीता' का समय डा० भण्डारकर ने ४०० ई० पू० के लगभग माना है।

'The Geeta must be judged as a treatise on Bhakti by virtue of the prominence accorded to the element of faith.'
—*The Bhakti doctrine in Sandilya-Sutra*—Dr. B. M. Barua

'गीता-रहस्य', लोकमान्य तिलक, पृ० ४३७

'गीता', ११।५१-५४

पुराणों और पांचरात्रिकों का रचना-काल काफी विस्तृत है। हम पुराणों की प्राचीनतम तिथि गीता के आसपास का या उसके कुछ ही बाद का समय स्वीकार कर सकते हैं, परन्तु पुराणों में परिवर्तन-परिवर्द्धन बहुत बाद तक होते रहे और इस प्रकार विद्वानो ने पुराणों के वर्तमान रूप का समय तेरहवी'-चौदहवी शताब्दी ई० तक स्वीकार किया है। पांचरात्रिक संहिताओं की तिथि के सम्बन्ध में भी कम मत-वैभिन्न्य नही है। श्री जे०एन० फर्क़ुहर ने यह तिथि आठवीं शती ई० तक मानी है।' सामान्यतः वैष्णव तत्त्व युक्त पुराणो और प्राचीन पाचरात्र संहिताओं का काल लगभग एक ही माना जा सकता है।

इस प्रसंग मे एक मुख्य बात की ओर ध्यान देना आवश्यक है कि ईसा की पहली शताब्दी या उससे पूर्व ही आर्यों का प्रवेश दक्षिण भारत या तमिल-प्रदेश मे हो गया था और दो भिन्न संस्कृतियों के सपर्क और मिलन के परिणामस्वरूप तीनों की धार्मिक भावनाओं मे आदान-प्रदान होने लगा था। इस बात के अनेक प्रमाण हैं कि भागवत धर्म या सात्वत धर्म ईसा की पहली शताब्दी या उससे पूर्व ही तमिल-प्रदेश मे पहुचकर द्राविड़ संस्कृति और तमिलों की धार्मिक मान्यताओं के संपर्क में आने लगा था। अधिकाश पुराणों और पांचरात्रो के निर्माण मे तमिल-प्रदेश की उस मिली-जुली सस्कृति के वातावरण को ही काम मे लाया गया है। अधिकाश पुराणों ने तमिल-प्रदेश की धार्मिक मान्यताओं और तमिल-जनता के रीति-रिवाजो को ग्रहण कर सास्कृतिक समन्वय का भी कार्य किया है। दक्षिण के वैष्णव भक्ति-आन्दोलन के उन्नायक आलवारो का समय सामान्यतः पांचवी शताब्दी से नवी शताब्दी तक मानते हैं। इसमे सन्देह नही कि आलवार भक्तो के 'प्रबन्धम्' से भी दक्षिण मे निर्मित कुछ पुराणो ने प्रभाव ग्रहण किया है। यह तो निश्चित रूप से मान सकते हैं कि प्रमुख वैष्णव पुराणो के वर्तमान रूप आलवार काल के बाद ही गठित हुए है। 'प्रबन्धम्' का प्रभाव तमिल भाषी जनता पर इतना अधिक पड़ा कि वैष्णव भक्ति ने जन-आदोलन का रूप धारण किया और परवर्ती काल मे वैष्णव आचार्यों ने 'प्रबन्धम्' और पुराणो का आधार लेकर वैष्णव संप्रदायो की स्थापना की।

चूंकि प्राचीन पुराणो के प्रारभिक रूप तमिल-प्रदेश के भक्ति-आंदोलन के पहले ही निर्मित हुए होंगे, अतः सामान्य रूप से पुराणों के प्रतिपाद्य और वैष्णव-भक्ति के विकास मे उनके योगदान पर सक्षेप मे यहा प्रकाश डाला जा सकता है। प्रमुख वैष्णव पुराण हैं—मत्स्य, कूर्म, वाराह, वामन, नारद, ब्रह्मवैवर्त, विष्णु और भागवत। 'भागवत' और 'ब्रह्मवैवर्त' पुराणों का रचना-काल अधिकाश विद्वानों के मतानुसार आलवार कृत प्रबन्धम् के बाद ही पड़ता है। इन

'पुराणो तथा उपपुराणों की तिथियो का पांडित्यपूर्ण अध्ययन'—डा० आर० सी० हाज़रा ने '*Studies in the Puranic records on Hindu rites and customes*' and '*Studies in the Upa-Puranas*' में किया है।

An outline of the Religious Literature of India

—J. N. Farquhar

दोनों में 'ब्रह्मवैवर्त' तो बहुत बाद की रचना है। वैष्णव भक्ति के विकास में और मध्ययुगीन वैष्णव भक्ति-आदोलन के प्रेरणा-स्रोत के रूप में श्रीमद्भागवत का योगदान तो निर्विवाद रूप से महत्त्वपूर्ण है।[1] (जिसका विस्तृत अध्ययन एक पृथक् अध्याय में आगे प्रस्तुत किया गया है।) यहाँ पर पुराणों की सामान्य बातों की चर्चा ही अपेक्षित है।

पुराणों के अध्ययन से पता चलता है कि सभी पुराणों ने वेदमत और लोकमत का समन्वित रूप प्रस्तुत किया है। वास्तव में दक्षिण भारत में आने पर भागवत धर्म को एक नवीन परिस्थिति का सामना करना पड़ा। घोर अहिंसावादी जैन और बौद्ध धर्मवालों ने हिंसा को लेकर वैदिक धर्म को लोक-दृष्टि में नीचा गिराने की चेष्टा की थी और इन्होंने बहुत अधिक संख्या में ब्राह्मण धर्मावलम्बियों को अपने धर्म में मिला लिया था। वैदिक ब्राह्मणों की स्थिति दयनीय हो गई थी। विभिन्न साम्प्रदायिक प्रभावों ने भागवत धर्मानुयायियों में जो अवैदिक तत्त्व सम्मिलित कराना आरंभ कर दिया था और अब्राह्मण धर्मों द्वारा श्रुतियों की निन्दा की जा रही थी, उसके प्रत्युत्तर में पुराणकारों ने वैदिक धर्म की स्थापना की आवश्यकता समझी। अतः उन्होंने श्रुति और स्मृति को ही प्रमाण घोषित किया। पुराणों ने ज्ञान-योग को कर्म-योग से हेय बताकर वेदों की महत्ता को बढ़ाने में बड़ा योग दिया। इसी कर्म-योग ने पंचमहायज्ञों को भी बढ़ावा दिया। वैदिक यज्ञों की प्रशंसा सम्बन्धी अनेक कथाओं का निर्माण-स्तुतियों की महत्ता को बढ़ाने के उद्देश्य से ही किया गया। इतना ही नहीं ब्राह्मण विरोधी धर्मों के विरुद्ध भी अनेक कथाएं रची गईं और उन्हें हर प्रकार से हेय सिद्ध किया गया।[2] इस प्रक्रिया में बहुत-सी काल्पनिक और रद्दी सामग्रियाँ भी पुराणों के भीतर घुस गई हैं, जो पुराणों में परवर्ती काल में जुड़ गई हैं। यही कारण है कि पुराण-साहित्य व्यामिश्र रूप धारण करता गया जिसको देखकर आधुनिक विद्वान् पुराणों की निन्दा भी करते हैं। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी जी का तत्सम्बन्धी यह विवरण पुराणों के उक्त व्यामिश्र रूप के साथ-साथ उनकी वास्तविक स्थिति का बोध कराता है—"एक ऐसा समय गया है जब इन ग्रन्थों को अप्रामाणिक कहकर उड़ाने की चेष्टा की गई थी, परन्तु अब इतिहास-अनुरागी उन्हें बहुत बहुमूल्य निधि मानने लगे हैं। उनमें दी गई बेहूदी बातें उत्तरकालीन पण्डितों की कृति समझी जाती हैं। असल में लगभग डेढ़ हजार वर्ष पहले से लेकर आज तक पुराण बहुत अविकसित बुद्धि के लोगों के हाथ में रहे हैं और फलतः उनमें बेहूदी बातें इतनी आ घुसी कि पुराणों का मूल रूप खोज निकालना

१ मध्ययुगीन वैष्णव भक्ति-आदोलन के दो प्रमुख प्रेरणा-स्रोत हमने माने हैं—'प्रबन्धम्' और 'भागवत'। अत. वैष्णव भक्ति-आन्दोलन के इतिहास में इन दोनों ग्रंथों के महत्त्वपूर्ण योगदान पर सम्यक् प्रकाश डालने के उद्देश्य से ही भक्ति-आन्दोलन को प्रभावित करने वाले इन दोनों ग्रन्थों के प्रमुख तत्त्वों का विवेचन हमने आगे दो अध्यायों में प्रस्तुत किया है।

२ 'भक्ति-आदोलन का अध्ययन,' डा० रतिभानुसिंह, 'नाहर', पृ० १०८

बड़ा दुष्कर कार्य हो गया है।"[1]

लगभग सभी वैष्णव पुराणों पर 'गीता' का स्पष्ट प्रभाव है और जहा तक साधन पक्ष का सम्बन्ध है यह अधिकांशतः गीतानुकूल ही है। कुछ पुराणों पर पांचरात्रिक संहिताओं का प्रभाव भी परिलक्षित होता है। विशेषतया व्यूहों की मान्यता तो पांचरात्रिक प्रभाव ही है। ब्रह्म के स्वरूप के सम्बन्ध में सगुण और निर्गुण रूप दोनों को मानते हुए भी वैष्णव पुराण कहीं-कहीं निर्गुण ब्रह्म को ही अधिक महत्त्व देते हुए दिखाई पड़ते हैं। अवतारवाद को बहुत अधिक बढ़ाने वाले पुराणों ने अवतारों की संख्या में आश्चर्यजनक वृद्धि कर दी है। प्राचीन अवतारों को तो सभी पुराणों में मान्यताएं दी गई हैं, किन्तु कुछ नये अवतारों की भी मौलिक कल्पना की गई है।

भागवत पुराण और ब्रह्मवैवर्त पुराण में गोपालकृष्ण का जो रूप वर्णित है, उसमें तमिल भक्ति-परंपरा का बहुत अधिक योग परिलक्षित होता है। ब्रह्मवैवर्त पुराण में राधा और कृष्ण की शृंगारिक लीलाओं का जो सरस वर्णन है, उसका मूल आधार भी तमिल की वैष्णव भक्ति परंपरा में खोजा जा सकता है।[2] भागवत में पुरुषावतार से अवतारों का प्रारंभ किया गया है और श्रीकृष्ण के लीलावतारों की कथा को काफी विस्तार दिया गया है। बात यह है कि पुराणों के युग में पुरुषावतार, लीलावतार या कलावतार और अर्चावतार की कल्पना इतनी प्रचलित हो गई थी कि पुराणकार चाहें जितनी भी नई-नई उद्भावनाए करते, सब मान्य थीं।

पुराणकारों ने प्रायः एक स्वर से वेदों की प्रामाणिकता की सुदृढ़ स्थापना करने की चेष्टा की थी। ऐसी अवस्था में वैदिक कर्मकाण्डों की वे पूर्ण उपेक्षा नहीं कर सकते थे। पर साथ ही युग की बदलती हुई परिस्थितियों का भी ध्यान रखना था। फलतः प्राचीन प्रथाओं की नई व्याख्या करनी पड़ी और परंपरा-पालन का एक मध्यवर्ती मार्ग निकालना पड़ा। प्राचीन वैदिक या औपनिषदिक साधन-पद्धतियों को भक्ति की ओर उन्मुख करने में वैष्णव पुराणकारों ने जो प्रशंसनीय कार्य किए हैं, उनका वह प्रयास भक्ति-आंदोलन के इतिहास में एक सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण घटना है।[3]

पुराणकारों को ज्ञान-मार्ग से भी समझौता करना पड़ा है। यद्यपि कुछ वैष्णव पुराणों ने ज्ञान-मार्ग की खिल्ली उड़ाई है, तो भी सभी वैष्णव पुराणों की ऐसी प्रवृत्ति नहीं है। वैष्णव पुराणों ने ज्ञान को भक्ति की ओर उन्मुख करने का प्रयास यत्र-तत्र किया है और इन पुराणकारों ने ज्ञान को 'गीता' के ज्ञान के अर्थ में ही लिया है।

---

१. 'हिन्दी साहित्य की भूमिका,' डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० १६४

२. 'गोपालकृष्ण और राधा के विकास में तमिल की देन'—शीर्षक से गोपालकृष्ण और राधा के स्वरूप-विकास पर 'तमिल की वैष्णव भक्ति-परंपरा' के सन्दर्भ में आगे सम्यक् प्रकाश डाला गया है।

३. 'भक्ति-आंदोलन का अध्ययन', पृ० ११६

वैष्णव पुराणों में विशेषकर श्रीमद्भागवत में भागवत धर्म को सर्वोपरि सिद्ध करने का प्रयास हुआ है। भागवतकार का कहना है कि "अभिज्ञ पुरुषों को भी तुरन्त आत्मलाभ कराने के लिए जो उपाय भगवान् ने बताए हैं, उन्हीं को भागवत धर्म समझना चाहिए। भागवत धर्म का आश्रय लेने पर मनुष्य कभी प्रमाद में नहीं फँसता। उसपर कभी विघ्न का आक्रमण नहीं होता। वह इस संसार में आँख मूँदकर दौड़ने पर भी न तो कहीं फिसलता है, न गिरता ही है।"[1]

भागवत में भक्ति का महत्त्व इस प्रकार स्पष्ट कर दिया गया है—"जिस प्रकार बढ़ा हुआ अग्नि-पुंज ईंधन को जलाकर भस्म कर देता है, उसी प्रकार मेरी भक्ति भी सम्पूर्ण पाप-राशि को पूर्णतया ध्वस्त कर देती है। मेरी सुदृढ़ भक्ति मुझे जिस प्रकार प्राप्त करा सकती है, उस प्रकार न तो योग, न सांख्य, न धर्म, न स्वाध्याय, न तप और न दान ही करा सकता है। भक्ति का द्वार यहाँ चाण्डाल तक के लिए खोल दिया जाता है और वे भी अपने जातीय दोषों से मुक्त होकर भक्ति द्वारा पवित्र हो जाते हैं।"[2]

भक्ति के साधनों की चर्चा लगभग सभी वैष्णव पुराणों में समान रूप से है। सभी पुराणों ने नाम, स्मरण, गुरु माहात्म्य, सत्संग आदि की भी चर्चा की है और भक्तों के भेद और और भक्ति के भेद भी गिनाए हैं।

पांचरात्र-साहित्य और वैष्णव भक्ति

'पांचरात्र' मत का सर्वप्रथम विवरण हमें महाभारत के शान्तिपर्व में मिलता है। इसके प्राचीन ग्रंथ संहिता के नाम से प्रसिद्ध हैं। पांचरात्र संहिताओं की रचना मूलतः उत्तरी भारत में हुई और यहीं से ये दक्षिण भारत में भी प्रचारित तथा प्रसारित हुई हैं। दक्षिण भारत में भी अनेक संहिताओं का निर्माण हुआ था जिनमें दक्षिण भारत के मान्य तीर्थों की महिमा गाई गई है।[3] पांचरात्र संहिताएं संख्या में १०८ कही जाती हैं।[4] डॉ० श्रेडर ने इनकी संख्या २१५ तक बताई है।[5] परन्तु ये सब उपलब्ध नहीं हैं, केवल परवर्ती ग्रंथों में इनके उद्धरण मात्र प्राप्य हैं।[6]

---

१ 'भागवत', ११।१४।१७

२ वही, ११।१४।१८-२१

३ 'भागवत सम्प्रदाय', बलदेव उपाध्याय, पृ० ११५

४ प्रकाशित संहिताओं के नाम इस प्रकार हैं—'अहिर्बुध्न्य', 'ईश्वर', 'कपिंजल', 'जयाख्य', 'परम', 'पराशर', 'पाद्मतन्त्र', 'बृहद्ब्रह्म', 'भारद्वाज', 'लक्ष्मीतन्त्र', 'विष्णुतिलक', 'विष्णु', 'श्री प्रश्न', 'सात्त्वत' तथा 'नारद'।

५ पांचरात्र संहिताओं के सम्बन्ध में विस्तृत अध्ययन के लिए द्रष्टव्य है—
Pancharatra and Ahirbudhanya Samhita—Dr. Schrader

६ श्री यमुनाचार्य ने अपने 'आगम प्रामाण्य' नामक पांचरात्र ग्रंथ में 'ईश्वर', 'परम' 'शांडिल्य', 'सनत्कुमार', 'इन्द्ररात्र' तथा 'पद्मोद्भव' आदि संहिताओं का उल्लेख तथा उद्धरण दिया है। श्री रामानुजाचार्य ने 'परम संहिता', 'पौष्कर संहिता', तथा 'सात्त्वत संहिता' से उद्धरण किए हैं।

'पंच' तथा 'रात्र' शब्द के आधार पर 'पांचरात्र' नाम की अनेक कल्पनाएं की गई हैं। 'नारद पांचरात्र' ने 'रात्र' शब्द को अपनी कल्पना का आधार बनाया और इसका अर्थ ज्ञान लेते हुए १—परम तत्त्व, २—मुक्ति, ३—भुक्ति, ४—योग तथा ५—विषय (संसार) का निरूपण करने के कारण इसका नाम पाचरात्र पड़ना बताया है।[१] 'अहिर्बुध्न्य संहिता' ने भी 'नारद पाचरात्र' के मत का समर्थन किया है।[२]

अधिकांश पाचरात्र संहिताओं ने तत्त्व एवं आचार-मीमांसा में से आचार-पक्ष पर ही अधिक बल दिया है। इनके प्रतिपाद्य विषय चार हैं—ज्ञान, योग, क्रिया और चर्या। अधिकाश संहिताओं में 'ज्ञान' और 'योग' के लिए कम महत्त्व दिया गया है और क्रिया और चर्या को अत्यधिक महत्त्व दिया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि संहिताकारों ने भागवतों के लिए उपासनापद्धति और तत्सम्बन्धी उपकरणों की योजना करने के उद्देश्य से ही इनकी रचना की है।

पांचरात्रिकों ने परब्रह्म को 'नारायण' नाम से अभिहित किया है और परब्रह्म के दोनों रूप सगुण और निर्गुण स्वीकृत किए हैं। 'अहि० सं०' में उसे सभी द्वन्द्वों से मुक्त, सभी उपाधियों से वर्जित, सभी कारणों का कारण, 'षड्गुण्यरूप' (ज्ञान, शक्ति, ऐश्वर्य, बल, वीर्य और तेज से युक्त) कहा गया है। भगवान् की शक्ति की सामान्य संज्ञा लक्ष्मी है। शक्ति भगवान् की आत्मभूता है—उनके स्वरूप से भिन्न नहीं है। वह किसी कारण से कही उन्मेष प्राप्त करती है और जगत् के रचना-व्यापार में प्रवृत्त होती है।[३] सृष्टि के प्रारम्भ में लक्ष्मी के दो रूप हो जाते हैं—१—क्रिया शक्ति, २—भूत शक्ति। जगत् उत्पन्न करने की भगवदिच्छा को, उत्पादन के संकल्प को, क्रिया शक्ति और जगत् की परिणति को 'भूत-शक्ति' कहते हैं।[४] बात यह है कि संहिताओं ने औपनिषदिक शक्ति को लक्ष्मी रूप में स्वीकार करके और नारायण से उसका पृथक् अस्तित्व मानकर सगुणोपासना के लिए मार्ग प्रदर्शित किया है।

संहिताओं ने महाभारत के व्यूह-सिद्धान्त को और अधिक विस्तृत किया है और इनमें कुछ नये सिद्धान्त भी जोड़ दिए हैं। भगवान् के (पूर्व चर्चित) छः गुणों में से किन्हीं दो गुणों की प्रधानता से प्रत्येक व्यूह की सृष्टि होती है। व्यूहों की उत्पत्ति के विषय में 'महाभारत' का मत संहिताओं को भी मान्य है। ये सभी वासुदेव से संकर्षण, संकर्षण से प्रद्युम्न तथा प्रद्युम्न से अनिरुद्ध की उत्पत्ति मानती हैं। व्यूहों के कार्यों के सम्बन्ध में संहिताओं में मतैक्य नहीं है। अवतारवाद को बहुत अधिक आगे बढ़ाने वाले पांचरात्रिकों ने व्यूहों के बाद व्यूहान्तर की भी कल्पनाएं की हैं। उन्होंने व्यूहों तथा विभवों के अतिरिक्त भगवान् के अन्य अव-

---

१. 'नारद पांचरात्र', १।४४।५३

२. *The Philosophy of the Pancharatras, By* Baladev Upadhyaya *In* '*Prabuddha Bharata*', Vol. LVII of 1952, pp. 289-295.

३ 'अहिर्बुध्न्य संहिता', ३।४

४. वही, ३।२९

तारों की भी कल्पना की है। इन संहिताओं ने भगवान् विष्णु की मूर्तियों को भी पांचरात्र विधि से पवित्र किए जाने पर उनको अवताररूप में स्वीकार किया है। इसीको अर्चावतार कहा जाता है। इसी प्रकार प्राणियों के हृदय में निवास करने वाले विष्णु को भी इन्होंने अन्तर्यामी रूप दिया है।

पांचरात्रिकों को भगवान् का दयालु एवं करुणामय रूप सदा ध्यान में रहता है। अतः उन्होंने भगवान् की अनुग्रह-शक्ति की महान् एवं भव्य कल्पना की है। प्रायः सभी संहिताएं भगवान् की इस अनुग्रह-शक्ति का वर्णन करती हैं, जिससे जीवों पर भगवान् की नैसर्गिक कृपा होती है और तब जीवों के शुभ एवं अशुभ कर्म समत्व को प्राप्त होते हैं। इस अवस्था में जब भक्त के हृदय में भगवान् की अनुग्रह-शक्ति का निक्षेप हो जाता है तब उसके शुभ अशुभ कर्म स्वतः अपने व्यापार स्थगित करके उदासीन हो जाते हैं। भगवान् की अनुग्रह-शक्ति को उद्‌बुद्ध करने का भक्तों के पास एक मात्र उपाय है, शरणागति, प्रपत्ति, जिसकी शास्त्रीय संज्ञा 'न्यास' है। भगवान् की शरणागति या प्रपत्ति के बिना मुक्ति किसी प्रकार भी सम्भव नहीं है।

अधिकांश संहिताएं मन्दिर-निर्माण, मूर्ति-निर्माण, मूर्ति की सात्वत विधि द्वारा स्थापना आदि की विस्तृत पद्धति का विवेचन करती हैं। अवतारों की सुदृढ़ स्थापना के बाद और विशेषतया भागवतों या पांचरात्रिकों के अर्चावतार की कल्पना के सुदृढ़ीकरण के बाद तो मन्दिरों और मूर्तियों का महत्त्व बढ़ गया। पांचरात्रिकों के साहित्य ने मन्दिर-निर्माण को और भी अधिक बढ़ावा दिया। भगवान् के विभव और अन्तर्यामी रूप की अपेक्षा उनका अर्चावतार कहीं अधिक साध्य और आकर्षक सिद्ध हुआ। जब अर्चावतार को व्यावहारिक महत्त्व दे दिया गया तो पूजा-विधियों की विस्तृत व्यवस्था करनी पड़ी। यहां यह भी कह देना आवश्यक है कि पांचरात्रिकों की तरह वैखानसों ने भी अपनी संहिताओं में पूजा-विधि पर पर्याप्त प्रकाश डाला है, पर दोनों की विधियों में पर्याप्त अन्तर बताया जाता है।

पांचरात्र संहिताओं के सामान्य प्रतिपाद्य विषय का परिचय प्राप्त करने के उपरान्त वैष्णव भक्ति के विकास में उनके योगदान के महत्त्व पर विचार करना आवश्यक है। इन संहिताओं ने वैष्णवों के धार्मिक जीवन-दर्शन को बहुत अधिक प्रभावित किया है, इसमें सन्देह नहीं।[१] कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने पांचरात्र संहिताओं को बौद्ध और जैन धर्मों के प्रभाव में आकर वेद विरोधी तत्त्वों से युक्त होने की बात कही है। पर वास्तविकता यह है कि इन संहिताओं ने वेद सम्मत विचारों को तो ग्रहण किया, पर साथ ही नवीन परिस्थितियों की मांग के अनुसार भक्ति-मार्ग को सरल और सुलभ बनाने का प्रयत्न किया।

यहां पर एक महत्त्वपूर्ण बात की ओर ध्यान देना आवश्यक प्रतीत होता है। विद्वानों ने पांचरात्र संहिताओं का रचना-काल ईसा की पहली दूसरी

१. *Prabuddha Bharata*, Vol. LVII of 1952—*The Philosophy of Pancharatras*, p. 239

शताब्दी से सातवीं-आठवीं शताब्दी तक माना है। चूंकि अधिकांश संहिताओं की रचना दक्षिण भारत में हुई है, अतः ये उस समय की धार्मिक स्थिति का बोध कराती हैं। तत्कालीन तमिल भक्ति साहित्य में वर्णित धार्मिक स्थिति भी इन संहिताओं की रचना की आधार-भूमि की ओर संकेत करती है। उस समय तमिल-प्रदेश में बहुत बड़ी संख्या में मन्दिरों का निर्माण हो चुका था। प्राचीन तमिल भक्ति-साहित्य में उस समय के मन्दिरों का विस्तृत परिचय मिलता है और उनमें व्यवस्थित पूजा-पद्धति का भी उल्लेख मिल जाता है। ईसा की दूसरी शताब्दी की तमिल-कृति 'परिपाडल' में उन सभी तत्वों का विवरण मिलता है, जिनका वर्णन पांचरात्र संहिताओं में मिलता है। 'परिपाडल' में जो विचार व्यक्त किए गए हैं, वे पांचरात्र संहिताओं के लिए भावभूमि तैयार करते हुए दिखाई देते हैं। यही संभावना दीखती है कि 'परिपाडल' के रचयिताओं ने महाभारत के 'नारायणीयोपाख्यान' से विचार ग्रहण किए हों और तमिल-प्रदेश की भक्ति-परम्परा में मान्य सिद्धान्तों के साथ उनका समन्वय करा दिया हो। तमिल-प्रदेश की भक्ति-परम्परा में भक्ति का वही सरल रूप उस समय या उससे पहले भी उपलब्ध था, जो पांचरात्र संहिताओं में प्रतिपादित है।

नारायण के साथ उनकी शक्ति के रूप में 'लक्ष्मी' को मानने की जो बात संहिताओं में है, उसके मूल में तमिल-प्रदेश की परम्परागत धार्मिक भावना का आधार ही है। साथ ही व्यूहों की कल्पना के पीछे भी लगभग यही तथ्य है। ईसा की दूसरी-तीसरी शताब्दियों की तमिल की भक्तिपरक कृतियों में तत्कालीन मन्दिरों और उनमें स्थित आराध्य देवों की मूर्तियों का जो वर्णन मिलता है, उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि व्यूह की कल्पना उस समय की धार्मिक भावना के बिलकुल अनुकूल थी। अतः यह मानने के लिए पर्याप्त प्रमाण है कि पांचरात्र संहिताएं, उन तमिल-कृतियों के बाद की रचनाएं हैं और दोनों का बहुत अधिक सम्बन्ध है।[1]

तमिल की भक्ति-परम्परा में वैष्णव भक्ति

तमिल की एक बड़ी ही प्राचीन भक्ति-परंपरा है। यह कहना कठिन है कि तमिल जनता में कब से धार्मिक भावना अथवा भक्ति-भावना का विकास-स्रोत

---

1. "With this we reach a condition in our knowledge of the Panchatatra which distinctly implies (i) that the formal text books of the Pancharatra were written and got into vogue perhaps later than the age of the Tamil classics. After an elaborate examination of the question Prof. Schrader came to the conclusion that perhaps the earliest of these are referable to about A. D. 300. We seem to have here in these Tamil classics a view of Pancharatra, perhaps less formal, but none the less distinctly Pancharatraic in character, assimilable to the exposition of the Pancharatra as found in the Narayaniya section of the Mahabharata ....."*The Narayaniya in Tamil Literature.* Dr. S. Krishnaswamy Iyenger--*Gangamatha--The Commemoration volume*, 1937, pp. 28-29

तारों की भी कल्पना की है। इन संहिताओं ने भगवान् विष्णु की मूर्तियों को भी पांचरात्र विधि से पवित्र किए जाने पर उनको अवतार रूप में स्वीकार किया है। इसीको अर्चावतार कहा जाता है। इसी प्रकार प्राणियों के हृदय में निवास करने वाले विष्णु को भी इन्होंने अन्तर्यामी रूप दिया है।

पांचरात्रिकों को भगवान् का दयालु एवं करुणामय रूप सदा ध्यान में रहता है। अत: उन्होंने भगवान् की अनुग्रह-शक्ति की महान् एवं भव्य कल्पना की है। प्रायः सभी संहिताएं भगवान् की इस अनुग्रह-शक्ति का वर्णन करती हैं, जिससे जीवों पर भगवान् की नैसर्गिक कृपा होती है और तब जीवों के शुभ एवं अशुभ कर्म समत्व को प्राप्त होते हैं। इस अवस्था में जब भक्त के हृदय में भगवान् की अनुग्रह-शक्ति का निक्षेप हो जाता है तब उसके शुभ अशुभ कर्म स्वतः अपने व्यापार स्थगित करके उदासीन हो जाते हैं। भगवान् की अनुग्रह-शक्ति को उद्बुद्ध करने का भक्तों के पास एक मात्र उपाय है, शरणागति, प्रपत्ति, जिसकी शास्त्रीय संज्ञा 'न्यास' है। भगवान् की शरणागति या प्रपत्ति के बिना मुक्ति किसी प्रकार भी सम्भव नहीं है।

अधिकांश संहिताएं मन्दिर-निर्माण, मूर्ति-निर्माण, मूर्ति की शास्त्रवत विधि द्वारा स्थापना आदि की विस्तृत पद्धति का विवेचन करती हैं। अवतारों की सुदृढ़ स्थापना के बाद और विशेषतया भागवतों या पांचरात्रिकों के अर्चावतार की कल्पना के सुदृढ़ीकरण के बाद तो मन्दिरों और मूर्तियों का महत्त्व बढ़ गया। पांचरात्रिकों के साहित्य ने मन्दिर-निर्माण को और भी अधिक बढ़ावा दिया। भगवान् के विभव और अन्तर्यामी रूप की अपेक्षा उनका अर्चावतार कहीं अधिक साध्य और आकर्षक सिद्ध हुआ। जब अर्चावतार को व्यावहारिक महत्त्व दे दिया गया तो पूजा-विधियों की विस्तृत व्यवस्था करनी पड़ी। यहां यह भी कह देना आवश्यक है कि पांचरात्रिकों की तरह वैखानसों ने भी अपनी संहिताओं में पूजा-विधि पर पर्याप्त प्रकाश डाला है, पर दोनों की विधियों में पर्याप्त अन्तर बताया जाता है।

पांचरात्र संहिताओं के सामान्य प्रतिपाद्य विषय का परिचय प्राप्त करने के उपरान्त वैष्णव भक्ति के विकास में उनके योगदान के महत्त्व पर विचार करना आवश्यक है। इन संहिताओं ने वैष्णवों के धार्मिक जीवन-दर्शन को बहुत अधिक प्रभावित किया है, इसमें सन्देह नहीं।* कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने पांचरात्र संहिताओं को बौद्ध और जैन धर्मों के प्रभाव में आकर वेद विरोधी तत्त्वों से युक्त होने की बात कही है। पर वास्तविकता यह है कि इन संहिताओं ने वेद सम्मत विचारों को तो ग्रहण किया, पर साथ ही नवीन परिस्थितियों की मांग के अनुसार भक्ति-मार्ग को सरल और सुलभ बनाने का प्रयत्न किया।

यहां पर एक महत्त्वपूर्ण बात की ओर ध्यान देना आवश्यक प्रतीत होता है। विद्वानों ने पांचरात्र संहिताओं का रचना-काल ईसा की पहली दूसरी

---

* *Prabuddha Bharata*, Vol. LVII of 1952—*The Philosophy of Pancharatras*, pp 289

शताब्दी से सातवीं-आठवीं शताब्दी तक माना है। चूंकि अधिकांश संहिताओं की रचना दक्षिण भारत में हुई है, अतः वे उस समय की धार्मिक स्थिति का बोध कराती है। तत्कालीन तमिल भक्ति साहित्य में वर्णित धार्मिक स्थिति भी इन संहिताओं की रचना की आधार-भूमि की ओर संकेत करती है। उस समय तमिल-प्रदेश में बहुत बड़ी संख्या में मन्दिरों का निर्माण हो चुका था। प्राचीन तमिल भक्ति-साहित्य में उस समय के मन्दिरों का विस्तृत परिचय मिलता है और उनमें व्यवस्थित पूजा-पद्धति का भी उल्लेख मिल जाता है। ईसा की दूसरी शताब्दी की तमिल-कृति 'परिपाडल' में उन सभी तत्त्वों का विवरण मिलता है, जिनका वर्णन पांचरात्र संहिताओं में मिलता है। 'परिपाडल' में जो विचार व्यक्त किए गए है, वे पांचरात्र संहिताओं के लिए भावभूमि तैयार करते हुए दिखाई देते हैं। यही संभावना दीखती है कि 'परिपाडल' के रचयिताओं ने महाभारत के 'नारायणीयोपाख्यान' से विचार ग्रहण किए हों और तमिल-प्रदेश की भक्ति-परम्परा में मान्य सिद्धान्तों के साथ उनका समन्वय करा दिया हो। तमिल-प्रदेश की भक्ति-परम्परा में भक्ति का वही सरल रूप उस समय या उससे पहले भी उपलब्ध था, जो पांचरात्र संहिताओं में प्रतिपादित है।

नारायण के साथ उनकी शक्ति के रूप में 'लक्ष्मी' को मानने की जो बात संहिताओं में है, उसके मूल में तमिल-प्रदेश की परम्परागत धार्मिक भावना का आधार ही है। साथ ही व्यूहों की कल्पना के पीछे भी लगभग यही तथ्य है। ईसा की दूसरी-तीसरी शताब्दियों की तमिल की भक्तिपरक कृतियों में तत्कालीन मन्दिरों और उनमें स्थित आराध्य देवों की मूर्तियों का जो वर्णन मिलता है, उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि व्यूह की कल्पना उस समय की धार्मिक भावना के बिलकुल अनुकूल थी। अतः यह मानने के लिए पर्याप्त प्रमाण है कि पांचरात्र संहिताएं, उन तमिल-कृतियों के बाद की रचनाएं हैं और दोनों का बहुत अधिक सम्बन्ध है।[1]

तमिल की भक्ति-परम्परा में वैष्णव भक्ति

तमिल की एक बड़ी ही प्राचीन भक्ति-परंपरा है। यह कहना कठिन है कि तमिल जनता में कब से धार्मिक भावना अथवा भक्ति-भावना का विकास-स्रोत

1. "With this we reach a condition in our knowledge of the Pancharatra which distinctly implies (i) that the formal text books of the Pancharatra were written and got into vogue perhaps later than the age of the Tamil classics. After an elaborate examination of the question Prof. Schrader came to the conclusion that perhaps the earliest of these are referable to about A. D. 300. We seem to have here in these Tamil classics a view of Pancharatra, perhaps less formal, but none the less distinctly Pancharatraic in character, assimilable to the exposition of the Pancharatra as found in the Narayaniya section of the Mahabharata ....." *The Narayaniya in Tamil Literature.* Dr. S. Krishnaswamy Iyenger—*Gangamatha—The Commemoration volume*, 1937, pp. 28-29

शताब्दी तक का काल संघकाल[1] कहलाता है। तीसरी शताब्दी से लेकर पांचवी शताब्दी तक के काल को सघोत्तर काल अथवा बौद्ध जैन-काल कहा जाता है। इस काल को 'भक्ति-पूर्व-काल' भी कहते हैं। छठी शताब्दी से लेकर नवीं शताब्दी तक का काल अर्थात् आलवार और नायनमारों का काल 'भक्ति-काल' कहलाता है।

संघ काल की प्रकृति-पूजा

सघ काल के अन्तर्गत साधारणतः सघ-पूर्व काल को भी लिया जाता है। सघ-पूर्व काल का एक मात्र ग्रन्थ 'तोलकाप्पियम्' उपलब्ध है। यह एक लक्षण ग्रन्थ है। इस लक्षण ग्रन्थ से बहुत पहले ही उसके लक्ष्य-साहित्य के आविर्भाव का पता चल जाता है। स्वय 'तोलकाप्पियम्' के रचयिता ने स्वीकार किया है कि उन्होने अपने जो सिद्धान्त निर्धारित किए हैं, वे पूर्ववर्ती साहित्यकारो द्वारा सकेतित अथवा प्रवर्तित सिद्धान्तो पर ही आधारित हैं।[2] तोलकाप्पियम् भी, पूर्वकालीन प्राचीन अवस्था का द्योतक तमिल साहित्य अब उपलब्ध नही। अत: तत्कालीन समाज की भक्ति की कौन-कौनसी धारणाएं मान्यताएं थी, उनका केवल अनुमान ही लगाया जा सकता है। परन्तु तोलकाप्पियम् तथा संघ काल की रचनाओ से तमिल जनता के विभिन्न देवताओ और उनकी उपासना-पद्धतियो और भक्ति सम्बन्धी मान्यताओ पर पर्याप्त प्रकाश पडता है :

सघ काल के साहित्य से पता चलता है कि प्राचीन तमिल लोग प्रकृति-सौन्दर्य मे रम जाते थे और अत्यन्त स्वच्छ मन से किसी भी जटिल चिन्तन से अस्त-व्यस्त न होकर अपना जीवन बिताते थे। प्रधानतः इस काल की रचनाओं के वर्ण्य विषय दो हैं—प्रेम और वीरता। प्रमाण स्वरूप दो कविता सग्रह है—एट्टुतोकै[3] (आठ विभिन्न कविता-सग्रह) तथा पत्तु पाट्टु[4] (दस वर्ण्य काव्यों का सग्रह)। तमिल काव्य-शास्त्र के अनुसार कविता मे गाए जाने के योग्य दो ही विषय है—एक 'अहम्' (आन्तरिक या मानसिक) तथा दूसरा 'पुरम्' (बाह्य)। भक्ति, प्रेम आदि हृदय सम्बन्धी विषय 'अहम्' के अन्तर्गत तथा युद्ध, शासन-विधान, नीति-शास्त्र आदि 'पुरम्' के अन्तर्गत माने जाते थे। 'पुरम्' मे भक्ति की उपासना-पद्धति को स्थान प्राप्त था। प्राकृतिक आनन्द मे मग्न एक

---

1. कई तमिल विद्वानो का मत है कि प्राचीन काल में तमिल-देश में साहित्य-सर्जन को प्रोत्साहन देने तथा प्रत्येक रचना को साहित्यिक कसौटी पर परखने के लिए तत्कालीन राजाओ के तत्वावधान मे एक कवि-परिषद् की स्थापना हुआ करती थी, जिसको 'सघम्' की सज्ञा दी जाती थी।

Tolkappiam Porul Puratural, Sutras, 77 and 78

'नट्रिनै', 'कुरुन्तोकै', 'पट्टिट्रणत्तु', 'परिपाडल', 'कलितोकै', 'नेडुत्तोकै', 'अहनानूरु' और 'पुरनानूरु'।

'तिरुमुरुगाट्रुप्पडै', 'पोरुनर-आट्रुप्पडै', 'शिरुपाणाट्रुप्पडै', 'पेरुम्पाणाट्रुप्पडै', 'मुल्लैपाट्टु', 'मदुरैकांची', 'नेडुनलवाडै', 'कुरिंजिपाट्टु पट्टिट्रणप्पालै', 'मलैपडु कडाम'

निश्चित जीवन दर्शाने वाली संघकालीन कविताओं में प्रकृति की असीम शक्तियों तथा अज्ञात विशेषताओं के प्रति जो श्रद्धा-भाव या वन्दना-भाव देखने को मिलता है, उस भाव विशेष को स्वाभाविक धर्म भी कहा जा सकता है। इस काल के साहित्य में वृक्ष, वन, पहाड़ आदि वस्तुओं में रहने वाले मंगलकारी और मंगलदायी देवताओं की कल्पनाएं यत्र-तत्र मिलती हैं। इन देवी-देवताओं को सन्तुष्ट करने के लिए प्रार्थनाएं होती थी और बलिदान भी होता था। प्राचीन तमिल-लोग विघ्न-बाधाओं को दूर करने की प्रार्थना कर सूर्य की भी पूजा करते थे। अग्नि की भी पूजा होती थी, जिसे 'पिरै तोलुदल' कहते थे।[1] 'परिपाडल' नामक ग्रन्थ में कहा गया है कि भगवान् के जिस रूप की कल्पना मन में की जाती है, भक्त के लिए उनका वही रूप उपास्य अथवा प्रिय हो जाता है।[2] कहने का तात्पर्य यह है कि संघकाल के साहित्य पर दृष्टि डालते समय, उस काल की पूर्व प्रचलित प्रकृति-पूजा-प्रणाली का भी परिचय मिलता है।

तमिलों के विभिन्न देवी-देवता

'तोलकाप्पियम्' तत्कालीन तमिलों के प्रमुख देवताओं का परिचय देता है। इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ में तमिल-प्रदेश के जलवायु और अवस्था के अनुसार चार भू-भागों में विभाजित होने का उल्लेख है। प्रत्येक भाग को 'तिणै' कहते थे। इन चारों 'तिणै' के नाम थे[3]—कुरिंजि (पहाड़ी क्षेत्र), मुल्लै (वन-भूमि), मरुदम (उपजाऊ खेत), नेयदल (समुद्रवर्ती क्षेत्र)। प्रत्येक प्रदेश में प्रत्येक प्रकार के लोग रहते थे जो वहां की प्रकृति और अवस्था के अनुसार अपनी सभ्यता विकसित करते थे इन भूखण्डों के लिए अलग-अलग देवता भी स्वीकार किए गए थे।[4] मुल्लै-प्रदेश के अधिदेवता 'मायोन' अर्थात् श्याम रंग वाले 'तिरुमाल' कुरिंज के देवता 'शेयोन्' अर्थात् गोरे रंग वाले 'मुरुगन' थे। गांव की निकटवर्ती खेती भूमि 'मरुदम' के अधिपति वर्षा भेजने वाले 'इन्द्र देव' थे। समुद्रवर्ती भाग के देवता 'वरुण' देव माने जाते थे। इन चारों भू—भाग के अतिरिक्त तोलकाप्पियम्' में एक पांचवी भूमि का भी उल्लेख है।[5] यह 'पालै' (मरुभूमि) है और उसकी अधिष्ठात्री देवी कोट्रवै थी। तमिल विद्वान् श्री कल्याण सुन्दर मुदालियार का कहना है कि तमिल-प्रदेश के पांच भू-भागों में द्राविड़ लोगों की मौलिक कल्पना के अनुसार ही पांच देवताओं का अस्तित्व धीरे-धीरे साकार हुआ और इन देवताओं के साथ आर्य

१. *Tolkappiam-Porul, Ahatinai 5, Nachinarkinjanar's commentary and Kalitogai*, Palai Kali, 16
२. 'परिपाडल' ४, ११।२६
३. *Polkappiam—Peruladhikaram. Ahatinai* Sutra 5,
४. इस प्रकार के भू-विभाजन तथा प्रत्येक विभाग के प्रत्येक अधिदेवता मानने का उल्लेख वैदिक साहित्य में भी मिलता है। —'कृष्ण यजुःसंहिता', काण्ड पृ० ३, ४।
५. 'तोलकाप्पियम्', 'पोरुल', 'अहत्तिणै' ३०.

इस परवर्ती काल की रचनाओं में वैदिक देवताओं और उनके अतिरिक्त तमिल देवताओं और उनकी आराधना-प्रणाली का भी उल्लेख है। कुछ द्रविड देवता भी आर्य-देवता-मण्डल मे लिए गए।

मुल्लै या वन-भूमि के लोगों के उपास्य देव 'मायोन' को सबसे अधिक गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त था। इस देवता ने कालान्तर में अन्य भू-भागों पर भी अपना प्रभाव डाला। 'मायोन' शब्द का अर्थ है—'नील मेघ द्युति युक्त भगवान्' 'तिरुमाल' इनका दूसरा नाम था। ये 'आयर' कहलाने वाले ग्वाल लोगों के अधि-देवता थे। 'आयर' लोगों के देवता 'मायोन' बाल देवता थे। इस देवता का एकीकरण वैदिक विष्णु से कालान्तर में हो गया।[1] इस विषय की चर्चा यथा-स्थान विस्तार से की जाएगी।

संघकाल में आर्य और द्रविड़ संस्कृतियों में सम्मिलित होने पर भी द्रविड़ (तमिल) देवताओं और आचरणों का भिन्नत्व स्पष्ट रूप से देखने को मिलता है।

कुरिंजि या पर्वत-भूमि के लोगों के देवता 'शेयोन' अथवा 'मुरुगन' थे। 'मुरु-गुन' को तमिल लोगों की विशिष्ट अद्भुत सौंदर्यमय कल्पना-सृष्टि मान सकते हैं। 'मुरुगन' शब्द सुगन्ध, दिव्य, तेज, बालकपन, सौंदर्ययुक्त देवता की ओर लक्ष्य करता है। ये लाल वर्ण से चमकने वाला शरीर जिसमें नित नूतन यौवन की सुषमा बसती है, और अनुपम शक्तियुक्त देवता माने जाते हैं। ये प्रेम के देवता भी माने गए हैं। अविवाहित कन्याएं योग्य वर को पाने के लिए इस देवता की पूजा करती थी। भाला इनका आयुध है। इनके वीर स्वरूप के सूचक दण्डा-युधन, दण्डपाणि, वेलन, वेलायुधन, वेलवन आदि नाम भी तमिल-प्रदेश में प्रच-लित हैं। 'संघम्' साहित्य के 'पत्तुपाट्टु' नामक काव्य-संग्रह में सम्मिलित 'तिरु-मुरुगाट्रुप्पडै' नामक काव्य मे मुरुगदेव की पूजा-प्रणाली, उनके छः रमणीय निवास-स्थान तथा अन्य महिमाओं का विस्तार से वर्णन है। 'परिपाडल' नामक दूसरे कविता-संग्रह मे उपलब्ध पद्यों मे आठ मुरुगन की स्तुति में प्रस्तुत किए गए हैं। पहले इनकी पूजा 'कुरवर' नामक पर्वतवासी लोगों के बीच में बड़ी धूम-धाम से हुआ करती थी। 'कुरवर' शिकारी लोग थे। 'मुरुगन' भी शिकारी माने गए हैं। पर्वतवासी अपने प्रिय देवता के सामने मधु, मांस, भात आदि चढ़ाकर भेंस-बकरे की बलि भी देते थे। इस पूजा का संयोजक पुजारी होता था जिसको पर्वतवासी अपना गुरु मानते थे। पूजा के समय पुजारी रक्त वर्ण 'कांदल' पुष्प कान में पहनकर डमरू हिलाकर गरजने वाले शब्दों में भयंकर ताण्डव नृत्य करता था। 'तोलकाप्पियम्' में इस ताडव नृत्य को 'कांदल' कहा गया है। नृत्य

---

1 डा० सुनीतिकुमार चटर्जी का विचार है कि आर्यों के सूर्यवाचक देवता विष्णु भारत में आकर द्रविड़ों के एक आकाश देव से मिल गए, जिनका रंग द्रविड़ों के अनुसार नीला अथवा श्याम था। तमिल भाषा में आकाश को 'विन' भी कहते हैं जिसका 'विष्णु' शब्द से निकट का सम्बन्ध हो सकता है।

'दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय, श्री रामधारीसिंह, 'दिनकर' पृ० ६० से उद्धृत

के बीच पुजारी आवेश में आकर मुरुगदेव का माध्यम बनकर भविष्यवाणी भी दिया करता था। पूजा के समय पहाड़ी नर-नारी भी प्रार्थना गीत गाकर 'कुरवै' नामक नृत्य करते थे। कहा जाता है कि मुरुगदेव भी भक्तों के बीच पर्वत की कन्याओं से हाथ मिलाकर स्वयं आनन्दपूर्वक नाच उठते थे और उनको अभीष्ट वरदान देते थे। लोगों का विश्वास था कि मुरुगन, द्राविड स्त्री देवता कोट्रवै के पुत्र थे और युद्ध के अधिदेवता थे। इस प्रकार प्रारम्भ में मुरुगन को केवल पर्वतवासी वन्य नृत्य और पशुबलि आदि से पूजते थे। परन्तु बाद में अन्य वैदिक देवताओं की तरह इनके लिए भी मन्दिर बने और ये वैदिक ढंग से मन्दिरों में आराध्य देव हो गए। इन्हीं को संस्कृत में स्कन्ध, कार्तिकेय, सुब्रह्मण्य आदि नामों से पुकारा जाता है। मूलतः ये द्राविड़ अथवा तमिल देवता थे।[१] इनसे सम्बन्धित तमिल जनता के बीच में प्रचलित कथाएं आर्य लोगों की कथाओं में मिल-जुल गईं। फिर भी आर्य-सुब्रह्मण्यम् या कार्तिकेय और तमिल के मुरुगन में थोड़ा बहुत अन्तर रह ही गया। सुब्रह्मण्यम् के सम्बन्ध में अन्तर यह है कि आर्यों के कार्तिकेय ब्रह्मचारी माने जाते हैं और तमिलों के मुरुगन विवाहित। इनके दो पत्नियां थीं, जिनके नाम है—वल्ली और देवयानी। कहा जाता है कि वल्ली शिकारी जाति की थी, जिस पर मुग्ध होकर मुरुगदेव ने उससे विवाह कर लिया। तमिल-प्रदेश में यह कथा बहुत प्रचलित है और इसका आध्यात्मिक अर्थ भी लिया जाता है। मुरुगदेव के मन्दिर अधिकांशतः पर्वतीय प्रदेशों में पाए जाते हैं, जो उनके पर्वतीय प्रदेश के देवता होने की ओर संकेत करते है।

मुरुदम् अर्थात् उपजाऊ भूमि के देवता का वर्णन इस प्रकार मिलता है—"वह मेघों का अधिपति है। उसका आयुध वज्र है। जब भूमि गर्मी से सन्तप्त होती है, तब वह मेघों को भेजकर पानी बरसाता है। वह कई अप्सराओं से घिरा रहता है। उसका प्रिय भोज्य पदार्थ पोंगल (एक प्रकार की भात से बनी खिचडी), है।" आजकल भी तमिल-प्रदेश में पोंगल त्योहार (मकर सक्रान्ति) के अवसर पर इस देवता की पूजा होती है। इस देवता का वाहन ऐरावती नामक गौर वर्ण का हाथी है। कहा जाता है कि पुराने समय में इन्द्र के लिए अलग-अलग मन्दिर भी विद्यमान थे। 'शिलप्पधिकारम्' में इन्द्र के वज्रायुध के लिए एक अलग मन्दिर होने का भी उल्लेख है।[२] इसी ग्रंथ में 'इन्द्रविला' (इन्द्रोत्सव) का भी वर्णन मिलता है जिसको तमिल जनता मेघों के स्वामी इन्द्र को अच्छी

---

१ "The paucity, however, of Morugan temples and worship in North [illegible] rnece [illegible] er all [illegible] es be- [illegible] mystic Legend of Skanda's being sen of Lord Siva himself was skillfully woven by the Sanskrit Writers and given an air of plausibility."
Aryan Path by V. R. R. Dikshitar Vol. 23 pp. 72-80.

२ 'शिलप्पधिकारम्'—कारै ६,१२

फसल मिल जाने के कारण (धन्यवाद रूप में) प्रसन्न करने के लिए मनाती थी। इस ग्रंथ से यह भी ज्ञात होता है कि यह त्यौहार २८ दिन तक चलता था और पूर्णिमा के दिन इन्द्र की प्रतिमा के अभिषेक के बाद उसका विसर्जन होता था।

नेयदल अथवा समुद्रवर्ती प्रदेश के देवता 'वरुण' थे। मछुए लोग बड़ी धूम-धाम से इस देवता की पूजा करते थे। तिमिंगिल मछली का दांत इस देवता का आयुध था। कहा जाता है कि एक पंडिय राजा ने समुद्र के अधिदेवता वरुण के लिए उत्सव की प्रथा भी चलाई,[१] तंजाऊर में इन्द्र और वरुण के लिए भी मन्दिर थे, इसका पता शिलालेखों से चलता है।[२] तमिलों के ये इन्द्र और वरुण आर्य देवताओं से भिन्न थे या नहीं, यह निश्चित रूप से कहा नहीं जा सकता। हो सकता है कि द्रविड़ों के उपर्युक्त दोनों देवता आर्यों के इन्द्र और वरुण से मिल गए हों। इन दोनों देवताओं का स्थान अन्य देवताओं की अपेक्षा गौण है। जिस प्रकार मुरुगन के मन्दिर आज भी पर्वतीय प्रदेशों में विद्यमान हैं, उसी प्रकार इन्द्र और वरुण के मंदिर आज उपजाऊ और समुद्रवर्ती प्रान्तों में विद्यमान नहीं हैं।

पालै अथवा मरुभूमि की अधिष्ठात्री देवी कोट्रवै थी। यह युद्ध में विजय प्रदान करने वाली मानी गई है। अतः युद्ध में विजय पाने पर इस देवी को धन्यवाद देने के लिए उसकी पूजा करते थे।[३] इस देवी के उपासक 'मरवर' या 'कल्लर' लोग थे जो आखेट आदि क्रूर कृत्यों से अपनी जीविका चलाते थे और इस देवता को प्रसन्न करने के लिए पशुओं तथा मनुष्यों की भी बलि चढ़ाते थे। मदिरा, मांस इस देवता के प्रिय भोज्य थे। वास्तव में पालै प्रदेश के लोग जैसे भयंकर और क्रूर स्वभाव के थे, उनके देवता भी वैसे ही क्रूर और भयंकर थे। 'शिलप्पधिकारम्' में उसको तीन आंखों वाली कहा गया है। उसके पैरों पर पायल होती थी और महिषासुर के सिर पर रखे बताए जाते हैं। 'मणिमेखलै' में उल्लेख मिलता है कि इस देवी के पुजारी 'भैरव' कहलाते थे जो तांत्रिक मंत्रों का उच्चारण कर उसकी पूजा करते थे। वह चिर-यौवना बताई गई है। उसके अनेक मन्दिर निर्मित थे। कन्याकुमारी के मन्दिर में जिस देवी की मूर्ति है, इस देवी की बताई जाती है। इसका उल्लेख विदेशी यात्री पिल्लिनि ने किया और 'पेरिप्लस' में भी उल्लेख है।[४] कहा जाता है कि एक बार मदुरा में इस देवी के मन्दिर के फाटक अपने आप बन्द हो गए। पांड्य राजा ने इसे देवी का प्रकोप समझकर, उसको प्रसन्न करने के लिए दो ग्रामों की आय का महसूल इस देवी की पूजा के लिए शाश्वत रूप में निश्चित कर दिया।[५] कोट्रवै अथवा कालिका द्रविड़

---

१. 'पुरम्', ६, १०
२. *South Indian Inscrihtions*,Vol. I. PP. 414.
३. सीरराणियम्—पोरुल, सूत्र, ३६
४. *Cultural Heritage of India*. Vol. IV (First Edition) *Skanda Cult in South India*. V. R. R, Dikshitar, PP. 252-257.
५. 'शिलप्पधिकारम् २३, ११३-१२५

लोगों की कल्पना-प्रसूत मानी जाती है, यद्यपि बाद में आर्यों की दुर्गा, पार्वती आदि देवियों के अंश भी उनमें आ गए।

शिव भी पहाड़ी प्रदेश के देवता माने गए हैं। महेन्द्रगिरि (पश्चिम घाट का एक पर्वत) पर इनका निवास-स्थान था। ये मनुष्यों के जीवन और मरण के स्वामी माने जाते थे। ये सत्य के साक्षात् स्वरूप थे।[1] जो सत्य मार्ग से दूर जाते, वे उनको दण्ड देने के लिए उनका सत्यानाश कर देते थे। 'शिव' द्रविड़ लोगों के सबसे प्राचीन देवता माने जाते हैं। इनको पहाड़ी प्रदेश के अधिदेवता 'सेयोन' या 'मुरुगन' का पिता माना गया है। तमिल पुराणों में लिखा है कि तमिल भाषा का निर्माण शिवजी ने किया था और बाद में उसके व्यापक प्रचार के लिए अगस्त्य मुनि को तमिल भाषा का ज्ञान दिया था। प्राचीन तमिल-संघों के स्थापक शिव और 'मुरुगन' को माना जाता है। कहा जाता है कि संघ-साहित्य के सर्जन में उन्होंने सक्रिय योग दिया था। इस काल के कुछ ऐसे गीत मिलते हैं जो 'इरैयनार पाट्टु' अथवा, 'शिव' द्वारा रचित गीत कहलाते हैं। संघ-साहित्य से पता चलता है कि उस समय शिव से सम्बन्धित बहुत-सी कथाएं लोक में प्रचलित थीं, जिनमें त्रिपुर-दाह, कैलाश पर्वत को उठाने वाले रावण का गर्व-भंग, अमृत-मन्थन के समय हलाहल पान आदि कथाएं बहुत प्रचलित थीं। परन्तु संघ-साहित्य में शिव की पूजा का अधिक विवरण न मिलने से अनुमान किया जा सकता है कि उस समय शिव-पूजा कम होती थी।[2] बाद में तो नायनमारों ने शिव को अपना आराध्य देव मानकर उच्च कोटि के भक्ति-साहित्य का निर्माण कर दिया।

शिव की कल्पना और उनका प्रतीक रूप लिंग-पूजा द्राविड़ लोक-मानस की अपनी भाव-सृष्टियां हैं। मोहनजोदड़ो में प्राप्त शिव-लिंगों से इस कथन की पुष्टि होती है। लिंग-पूजा आर्यों के आगमन के पूर्व ही प्रचलित थी। ऋग्वेद में लिंग-पूजा का खण्डन है, जो आर्यों के आने के पूर्व द्राविड़ों के बीच लिंग-पूजा के बहुत प्रचलित होने की ओर संकेत करता है।[3] जब आर्य और द्राविड़ संस्कृतियों का सम्मिलन हुआ, तब वेदों के 'रुद्र' और द्राविड़ों के 'शिव' में एकता मानी जाने लगी। चूंकि 'शिव' द्राविड़ों के प्रमुख देवता थे, इसलिए उनकी अवहेलना के लिए उनकी पुराणों में अनेक कथाएं गढ़ी गईं।[4] किन्तु तमिल 'शिव' और वैदिक 'रुद्र' में कुछ अन्तर भी रह गया। अन्तर यह है कि जहां वैदिक 'रुद्र' बिजली और वर्षा के साथ आंधी और तूफानों के अधिपति थे, वहां तमिल 'शिव' संहार के देवता होने पर भी मंगलदायी समझे जाते थे। तमिल 'शिव' प्रेम और कल्याण के देवता माने जाते थे। हो सकता है कि वैदिक रुद्र में द्रविड़ शिव के भी गुण पहले से ही विद्यमान हों।[5]

---

१ परिपाडल, ५,३३

२ *Tamilar Salbhu*, Dr. Vidhyanandan, pp 127

३. *The Dravidian Element in Indian culture*, (Dr. Gilbert Seater) Translation in Tamil, pp. 99

४. 'संस्कृति के चार अध्याय', श्री 'दिनकर', पृष्ठ ५५

५. *Linguistic Survey of India*, Vol. iv pp. 279.

संघकाल की कृति 'परिपाडल'[1] में १२ आदित्य, ८ वसु, ११ रुद्र और २ अश्विनी आदि वैदिक देवता-मंडल के देवताओं का भी उल्लेख मिलता है। परन्तु इन देवताओं की पूजा या वन्दना किस-किस प्रकार की होती थी, इसका पता नहीं चलता। ब्रह्मा की पूजा, शिव-विष्णु की आराधना की तरह अधिक प्रचार को पा नहीं सकी। दक्षिण में केवल एक मन्दिर तथा उत्तर भारत में पुष्कर तीर्थ में एक आज भी विद्यमान है। कामदेव को पूजने की प्रथा अविवाहित कन्याओं के बीच विद्यमान थी। इसका ध्वज मकर माना गया है। 'शिलप्पधिकारम्' में उसे वसन्त ऋतु का देव कहा गया है। तत्कालीन समाज में इसके लिए उत्सव भी मनाए गए थे जिनको 'विलविला' कहते थे। ये नव दम्पतियों से पूजे जाते थे। कामदेव का कोई मन्दिर तमिलनाडु में अब विद्यमान नहीं है।

संघोत्तर काल की रचनाओं से पता चलता है कि बलदेव के लिए भी मन्दिर थे। मदुरै जिले के कुछ मन्दिरों में विष्णु सहित बलराम के विग्रह मिलते हैं। 'शिलप्पधिकारम्', 'मणिमेखलै' तथा 'पुरनानूरु' में बलदेव का उल्लेख है।[2] 'शिलप्पधिकारम्' के अनुसार चोल राजाओं की प्रधान नगरी कावेरी पूम्पट्टिनम् में षण्मुख वाले अरुण वर्ण 'सेयोन' (मुरुगन) श्वेत शंख-सा रंग वाले 'बलदेव' नीलमणि जैसे प्रकार युक्त 'तिरुमाल', 'मुक्तमाला' तथा विजयी छत्र सहित इन्द्र देव इन सभी के लिए अलग-अलग मन्दिर थे।

वैदिक देवताओं की तरह अनेक छोटे-मोटे प्राकृतिक तत्त्व भी देव-भावना से पूज्य संघ-साहित्य में मिलते हैं। भूत-प्रेत, वायु, सूर्य, चन्द्र, नगर, वृक्ष, नदी, पहाड़ आदि के स्थानीय देवताओं (local Gods) के लिए स्थान-स्थान पर पूजा होती थी। अल्प बुद्धि ग्रामीण जनता जिसके लिए सर्वशक्तिमान् परब्रह्म की कल्पना कठिन थी, छोटे-मोटे अनेक ग्राम देवताओं में भय के कारण विश्वास रखती थी।[3] मारियम्मा (शीतला) देवी की पूजा होती थी। ऐसी पत्नियों के जो अपने पातिव्रत के लिए प्रसिद्ध हुई थीं, तथा ऐसे पुरुषों के जिन्होंने अपार वीरता का प्रदर्शन कर प्राण-त्याग भी कर दिया था सम्मान के लिए शिलाओं (नडुकल)[4] की स्थापना होती थी और उन शिलाओं में मृतकों के स्मारक चित्र तथा लेख भी अंकित कर पूजन पद्धति चलती थी। 'शिलप्पधिकारम्' नामक संघोत्तर कालीन महाकाव्य की नायिका 'कण्णकि' ऐसी पत्नी थी जिसने अपने आदर्श पातिव्रत द्वारा पतिहत्या का बदला लिया था। कहा जाता है कि चेंगुट्टुवन नामक चेर राजा 'कण्णकी' के स्मारक बनाने के लिए हिमालय से

---

१. 'परिपाडल' ३, ६-८ तथा ७, ४-८

२ *Annamalia University Journal*, Vol. 8, pp. 213-211 *'Palan Thamilar Kadavul Vali Padu*, Prof. E. S. Vardarjnar.

३. *Village gods of South India*, R.R. Henry Whitehead

४ *An Essay on the Origin of Temples in south India*, Dr. Venkitaramaya pp. 4-5

शिला लेकर आया था और उसने उस शिला से पत्नी देवी के रूप में मूर्ति बनवा कर उसे एक मन्दिर में स्थापित किया था।

✓ इस प्रारम्भिक काल की एक महत्त्वपूर्ण उल्लेखनीय बात यह है कि विभिन्न देवताओं के लिए तमिल प्रदेश में मन्दिर निर्मित होते थे जहां उन देवताओं की पूजादि होती थी।[१] तमिल प्रदेश में वर्तमान अनगिनत मन्दिरों को देखने से स्पष्ट होता है कि मन्दिर-निर्माण बहुत पुराने काल में ही प्रारम्भ हो चुका था और मन्दिरों के निर्माण के साथ-साथ धार्मिक वातावरण का भी सूत्रपात हो चुका था।[१] मन्दिरों का निर्माण और उनकी रक्षा करना राजाओं के कर्तव्यों में से समझा जाता था।[१] ठीक ही तमिल प्रदेश को मन्दिरों का प्रदेश कहा गया है।

ऊपर हमने प्राचीन काल की तमिल प्रदेश की धार्मिक स्थिति का परिचय दिया है। उपर्युक्त विवेचन से पता चलेगा कि आर्य और द्रविड़ संस्कृतियों के सम्मिलन के पूर्णतः घटित होने पर भी तमिल-प्रदेश की धार्मिक भावना या भक्ति-भावना वैविध्य को लेकर है। द्रविड़ देवताओं और आचरणों का भिन्नत्व सूक्ष्म रूप से विद्यमान है। प्रारम्भ में विभिन्न देवताओं की भिन्न-भिन्न पूजा परिपाटियां भी दृष्टिगोचर होती हैं। किन्तु इन आचरणों के व्यवहार-पक्ष के साथ-साथ, तत्कालीन साहित्य में उत्कृष्ट धार्मिक चिन्तन का पक्ष भी स्पष्ट दीख पड़ता है। ऐसा मालूम होता है कि तमिलों के प्राकृतिक धर्म सम्बन्धित आचरण उनके उत्कृष्ट धार्मिक चिन्तन से भिन्नता लिए हुए हैं। आस्थामय विश्वास सम्बन्धी व्यावहारिक आचरण और उस धर्म के ऊंचे स्तर के विचार—दोनों के बीच बड़ी गहरी खाई पड़ गई मालूम पड़ती है। कहने का तात्पर्य यह है कि संघकालीन कवियों ने जीवन की शाश्वत मान्यताओं तथा शिष्टाचार के ऊंचे आदर्शों पर भी स्पष्ट रूप से प्रकाश डाला है। संघकाल की कुछ रचनाओं में कवियों ने उच्च कोटि के भक्ति-भाव भी व्यक्त किए हैं। एक सर्वशक्तिमान् भगवान् की कल्पना कर उससे भक्तिपूर्ण सम्बन्ध रखने की बात यत्र-तत्र संघ-साहित्य में देखने को मिलती है।

तमिलप्रदेश में तिरुमालधर्म (वैष्णवधर्म) की प्राचीनता

यह पहले कहा जा चुका है कि 'संघम' पूर्व काल की उपलब्ध रचना 'तोलका-प्पियम्' में तमिलप्रदेश के पांच भू-[illegible] अधिदेवताओं का विस्तृत वर्णन मिल[illegible] पांच देवताओं [illegible] वरुण, [illegible]) में

मायोन या तिरुमाल का स्थान सबसे ऊंचा था। 'तोलकाप्पियम्' के रचयिता ने भी विभिन्न भू-भागों तथा उनके अधिदेवताओं का उल्लेख करते समय सबसे पहले मुल्लैप्रदेश (वनभूमि) के देवता तिरुमाल का ही नाम लिया है।[1] बाद के प्रसिद्ध कवि सेक्किलार ने भी अपने ग्रन्थ 'पेरियपुराण' के विभिन्न देवताओं में 'तिरुमाल' के महत्त्वपूर्ण स्थान का समर्थन करते हुए उनका वनभूमि के देवता के रूप में उल्लेख किया है।[2] इस प्रकार हम देखते हैं कि वनभूमि (मुल्लैप्रदेश में जन्म लेकर तिरुमाल-धर्म धीरे-धीरे अन्य भू-भागों में भी फैलने लगा। मुल्लै अथवा वन-भूमि में गोचारण के व्यवसाय में संलग्न 'आयर' कहलाने वाले ग्वाले लोग रहते थे। उनके इष्ट देवता मायोन (बाद के साहित्य में कण्णन) का पालन-पोषण भी, कथाओं के अनुसार आयर कुल में ही हुआ था। 'मायोन' शब्द का अर्थ है—श्याम रंग वाला। कदाचित् इस रंग का सम्बन्ध 'आयर लोगों' की निवास-भूमि मुल्लै के वन-प्रदेशों में आकाशवीथि में एकत्रित होने वाले मेघों से हो सकता है जिसके रंग में 'आयर' लोग रमे होंगे और अपने इष्ट देवता के वर्ण की कल्पना इस प्रकार की होगी—

'तिरुमाल' शब्द भी 'मायोन' के लिए प्रयुक्त होता है, जो देवताओं के विशिष्ट स्थान को सूचित करने के लिए व्यवहृत होने लगा था। तोलकाप्पियम् 'तिरुमाल' का मानवजाति के रक्षक के रूप में उल्लेख करता है।[3] 'तोलकाप्पियम्' जैसा कि पहले कहा गया है कि एक लक्षण-ग्रन्थ है। उसके रचयिता ने 'पुवै निलै' नामक कविता का लक्षण देते समय श्रेष्ठ राजा की तुलना तिरुमाल से कर 'तिरुमाल' की स्तुति बहुत ही प्रशंसात्मक शब्दों में की है। यहां यह ध्यान देने योग्य तथ्य है कि तोलकाप्पियनार ने ऐसे शब्दों का प्रयोग 'तिरुमाल' के अतिरिक्त अन्य किसी देवता के लिए नहीं किया है। इससे तिरुमाल के महत्त्व का पता चलता है।

मुल्लैप्रदेश के वासी अपने देवता तिरुमाल की उपासना में, विशेष रूप से उसके प्रारम्भिक जीवन की बाल-लीलाओं में बहुत रम जाते थे। आयर कुल की नारियां उस दिव्य-पुरुष की रम्य लीलाओं के स्मरण में अपने हृदय को खो देती थीं, जिसका बालकपन भी उन्हीं की वनभूमि में घटा था। इस देवता के बालकपन से सम्बन्धित अनेकानेक कथाएं तमिल-जनता की कल्पना के अनुसार जन्म लेने लगीं। 'मायोन' के प्रति उन आयर रमणियों के प्रेम को लक्ष्य करके ही शायद तोलकाप्पियनार ने लिखा है कि इन रमणियों के हृदय में वैसा ही गहरा प्रेम अपने इष्ट देवता के प्रति था, जैसा उनको अपने पतियों के प्रति होता था।[4] पता चलता है कि तोलकाप्पियम् काल (ईसा-पूर्व पांचवीं शताब्दी का काल) से ही 'तिरुमाल' या 'मायोन' की प्रेम-कथाएं जन-मानस को पर्याप्त मात्रा में आकर्षित

१. 'तोलकाप्पियम्-अहम', सूत्र ५ और ३०
२. *Periya Puranam—Thirukurri putandar Puranam*, stanza 18.
३. तोलकाप्पियम्—'पोरुल,' सूत्र,' ६०
४. वही, ८३, ८४

शिला लेकर आया था और उसने उस शिला से पत्नी देवी के रूप में मूर्ति बनवा कर उसे एक मन्दिर में स्थापित किया था।

इस प्रारम्भिक काल की एक महत्त्वपूर्ण उल्लेखनीय बात यह है कि विभिन्न देवताओं के लिए तमिल प्रदेश में मन्दिर निर्मित होने थे जहाँ उन देवताओं की पूजादि होती थी।[1] तमिल प्रदेश में वर्तमान अनगिनत मन्दिरों को देखने से स्पष्ट होता है कि मन्दिर-निर्माण बहुत पुराने काल में ही प्रारम्भ हो चुका था और मन्दिरों के निर्माण के साथ-साथ धार्मिक वातावरण भी सुगठित हो चुका था।[2] मन्दिरों का निर्माण और उनकी रक्षा करना राजाओं के कर्तव्यों में से समझा जाता था।[3] ठीक ही तमिल प्रदेश को मन्दिरों का प्रदेश कहा गया है।

ऊपर हमने प्राचीन काल की तमिल प्रदेश की धार्मिक स्थिति का परिचय दिया है। उपर्युक्त विवेचन से पता चलेगा कि आर्य और द्रविड संस्कृतियों के सम्मिलन के पूर्णत: घटित होने पर भी तमिल-प्रदेश की धार्मिक भावना या भक्ति-भावना वैविध्य को लेकर है। द्रविड देवताओं और आचरणों का भिन्नत्व सूक्ष्म रूप से विद्यमान है। प्रारम्भ में विभिन्न देवताओं की भिन्न-भिन्न पूजा परिपाटियाँ भी दृष्टिगोचर होती हैं। किन्तु इन आचरणों के व्यवहार-पक्ष के साथ-साथ, तत्कालीन साहित्य में उत्कृष्ट धार्मिक चिन्तन का पक्ष भी स्पष्ट दीख पड़ता है। ऐसा मालूम होता है कि तमिलों के प्राकृतिक धर्म सम्बन्धित आचरण उनके उत्कृष्ट धार्मिक चिन्तन से भिन्नता लिए हुए हैं। आस्थामय विश्वास सम्बन्धी व्यावहारिक आचरण और उस धर्म के ऊँचे स्तर के विचार—दोनों के बीच बड़ी गहरी खाई पड़ गई मालूम पड़ती है। कहने का तात्पर्य यह है कि संघकालीन कवियों ने जीवन की शाश्वत मान्यताओं तथा शिष्टाचार के ऊँचे आदर्शों पर भी स्पष्ट रूप से प्रकाश डाला है। संघकाल की कुछ रचनाओं में कवियों ने उच्च कोटि के भक्ति-भाव भी व्यक्त किए हैं। एक सर्वशक्तिमान् भगवान् की कल्पना कर उससे भक्तिपूर्ण सम्बन्ध रखने की बात यत्र-तत्र संघ-साहित्य में देखने को मिलती है।

तमिलप्रदेश में तिरुमालधर्म (वैष्णवधर्म) की प्राचीनता

यह पहले कहा जा चुका है कि 'संघम्' पूर्वकाल की उपलब्ध रचना 'तोलकाप्पियम्' में तमिलप्रदेश के पाँच भू-भागों और उनके अधिदेवताओं का विस्तृत वर्णन मिलता है। इन पाँच देवताओं (मायोन, शेयोन, इन्द्र, वरुण, कोट्रवै) में

१ तमिल प्रदेश के प्राचीन मन्दिरों और उनमें स्थित देव-मूर्तियों का विस्तृत परिचय प्राप्त करने के लिए द्रष्टव्य है

"Some aspects of religion as revealed by early monuments and literature of the south"

—Sri K. R. Srinivasan, *published by the University of Madras*, 1960

२ *Origin of south Indian Temples*, Dr Vankitaramaya.

३ तोलकाप्पियम्—अहत्तिणै सूत्र ३०, इलम्पूरणार की टीका

मायोन या तिरुमाल का स्थान सबसे ऊंचा था। 'तोलकाप्पियम्' के रचयिता ने भी विभिन्न भू-भागों तथा उनके अधिदेवताओं का उल्लेख करते समय सबसे पहले मुल्लैप्रदेश (वनभूमि) के देवता तिरुमाल का ही नाम लिया है।[1] बाद के प्रसिद्ध कवि सेक्किलार ने भी अपने ग्रन्थ 'पेरियपुराण' के विभिन्न देवताओं में 'तिरुमाल' के महत्त्वपूर्ण स्थान का समर्थन करते हुए उनका वनभूमि के देवता के रूप में उल्लेख किया है।[2] इस प्रकार हम देखते हैं कि वनभूमि (मुल्लैप्रदेश में जन्म लेकर तिरुमाल-धर्म धीरे-धीरे अन्य भू-भागों में भी फैलने लगा। मुल्लै अथवा वन-भूमि में गोचारण के व्यवसाय में संलग्न 'आयर' कहलाने वाले ग्वाले लोग रहते थे। उनके इष्ट देवता मायोन (बाद के साहित्य में कण्णन) का पालन-पोषण भी, कथाओं के अनुसार आयर कुल में ही हुआ था। 'मायोन' शब्द का अर्थ है—श्याम रंग वाला। कदाचित् इस रंग का सम्बन्ध 'आयर लोगों' की निवास-भूमि मुल्लै के वन-प्रदेशों में आकाशवीथि में एकत्रित होने वाले मेघों से हो सकता है जिसके रंग में 'आयर' लोग रमे होंगे और अपने इष्ट देवता के वर्ण की कल्पना इस प्रकार की होगी—

'तिरुमाल' शब्द भी 'मायोन' के लिए प्रयुक्त होता है, जो देवताओं के विशिष्ट स्थान को सूचित करने के लिए व्यवहृत होने लगा था। तोलकाप्पियम् 'तिरुमाल' का मानवजाति के रक्षक के रूप में उल्लेख करता है।[3] 'तोलकाप्पियम्' जैसा कि पहले कहा गया है कि एक लक्षण-ग्रन्थ है। उसके रचयिता ने 'पुवै निलै' नामक कविता का लक्षण देते समय श्रेष्ठ राजा की तुलना तिरुमाल से कर 'तिरुमाल' की स्तुति बहुत ही प्रशंसात्मक शब्दों में की है। यहां यह ध्यान देने योग्य तथ्य है कि तोलकाप्पियनार ने ऐसे शब्दों का प्रयोग 'तिरुमाल' के अतिरिक्त अन्य किसी देवता के लिए नहीं किया है। इससे तिरुमाल के महत्त्व का पता चलता है।

मुल्लैप्रदेश के वासी अपने देवता तिरुमाल की उपासना में, विशेष रूप से उसके प्रारम्भिक जीवन की बाल-लीलाओं में बहुत रम जाते थे। आयर कुल की नारियां उस दिव्य-पुरुष की रम्य लीलाओं के स्मरण में अपने हृदय को खो देती थीं, जिसका बालकपन भी उन्हीं की वनभूमि में घटा था। इस देवता के बालकपन से सम्बन्धित अनेकानेक कथाएं तमिल-जनता की कल्पना के अनुसार जन्म लेने लगीं। 'मायोन' के प्रति उन आयर रमणियों के प्रेम को लक्ष्य करके ही शायद तोलकाप्पियनार ने लिखा है कि इन रमणियों के हृदय में वैसा ही गहरा प्रेम अपने इष्ट देवता के प्रति था, जैसा उनको अपने पतियों के प्रति होता था।[4] पता चलता है कि तोलकाप्पियम् काल (ईसा-पूर्व पांचवीं शताब्दी का काल) से ही 'तिरुमाल' या 'मायोन' की प्रेम-कथाएं जन-मानस को पर्याप्त मात्रा में आकर्षित

१. 'तोलकाप्पियम्-अहम्', सूत्र ५ और ३०
२. *Periya Puranam—Thirukarri putandar Puranam*, stanza 18.
३. तोलकाप्पियम्—पोरुल,' सूत्र,' ६०
४. वही, ८३, ८४

आकर्षित कर चुकी थी और संघकाल में 'तिरुमाल' सम्बन्धी इन कथाओं का खूब प्रचार हुआ।

संघ-साहित्य के प्रति आलवारों का ऋण

इसमें लेशमात्र सन्देह नहीं कि वैष्णव-भक्त-आलवारों का काल तमिल-साहित्य के संघकाल के पश्चात् ही निश्चित रूप से पड़ता है, क्योंकि आलवारों की रचनाओं में संघकाल की साहित्यिक परम्पराओं तथा विचार-धाराओं तक का स्पष्ट प्रभाव दीख पड़ता है। आलवारों की रचनाओं की साहित्यिक पृष्ठ-भूमि संघ-साहित्य में देखने को मिल जाती है। कुछ आलवारों ने तो संघ-साहित्य के प्रति अपने आभार को प्रकट भी किया है। यह स्वाभाविक ही है। क्योंकि किसी कवि के काव्य का सम्बन्ध उसके पूर्ववर्ती और समसामयिक युग से बहुत होता है। प्रत्येक कवि अपने युग के प्रभावों से किसी अंश में प्रभावित होता है और फिर अपनी कृति से अपने युग तथा अपने परवर्ती युग को प्रभावित करता है। इसलिए उस कवि के अध्ययन के लिए उसके पूर्व और समकालीन युग का अध्ययन आवश्यक हो जाता है। ऐसी दशा में ही उस कवि के काव्य की आलोचना बड़ी सावधानी तथा सहानुभूति से होनी चाहिए।

आलवारों की रचनाओं की साहित्यिक पृष्ठभूमि में संघ-साहित्य है। संघ-काल तमिल-साहित्य का स्वर्णयुग है, क्योंकि इस काल में रचे गए तमिल-काव्यों का साहित्यिक महत्त्व सर्वश्रेष्ठ है। इस काल की रचनाओं में तत्कालीन तमिल जनता के जीवन-दर्शन और आचार के सम्बन्ध में बहुत-से विवरण भरे पड़े हैं। यह कहा जा चुका है कि इस काल के प्रारम्भ में ही उत्तर से वैदिक संस्कृति का आगमन तमिलप्रदेश में हुआ और तमिल-संस्कृति से उसका सम्मिश्रण हुआ। इस काल की रचनाओं में दोनों संस्कृतियों का सुन्दर समन्वय देखने को मिलता है। धार्मिक भावना के क्षेत्र में एक ओर तमिलसंस्कृति से और दूसरी ओर वैदिकसंस्कृति के भाव-प्रसूत विचार हैं। इस काल की रचनाओं में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह देखने को मिलती है कि जनता में धार्मिक भावना का उदय पहले से ही हो चुका था। साथ ही उनमें धार्मिक सहिष्णुता भी दीख पड़ती है और धार्मिक संघर्ष का नाम तक नहीं है। परन्तु बाद में यह बात नहीं रह गई थी।

इस संघकाल की रचनाओं का अध्ययन करने से पता चलता है कि इस काल में तिरुमाल-धर्म अर्थात् वैष्णव धर्म बहुत प्रचार को पा रहा था और तिरुमाल सम्बन्धी (वैदिक-परम्परा-प्रसूत तथा तमिल मानस से उत्पन्न) कथाएं बहुत प्रचलित थीं। स्मरण रहे कि तमिल भूमि में 'मायोन' या तिरुमाल की कल्पना (पहले से) पृथक् रूप से जाग उठी थी। संघकाल के साहित्य से ज्ञात होता है कि वैष्णव-धर्म विशेषकर भागवत मत एवं अवतारवाद की प्रतिष्ठा, तथा विष्णु-नारायण-वासुदेव-कृष्ण और 'तिरुमाल' या 'मायोन' का एकीकरण पूर्ण और पुष्ट हो रहा था। आलवारों ने इस युग के साहित्य से बहुत कुछ लिया। अतः आलवार-पूर्व

इस साहित्य में वर्णित वैष्णव-भक्ति के रूप पर दृष्टि डालने की आवश्यकता है।

संघ-साहित्य में वैष्णव-भक्ति

संघकाल की रचनाएं तीन संग्रहों में मिलती हैं :

१. एट्टुतोकै (आठ कविता-संग्रह),
२. पत्तुपाट्टु (दस वर्णन-काव्यों का संग्रह), और
३. पदिनेण कील कणक्कु (अठारह लघु कविता संग्रह)[1]

नट्टिणै

"एट्टुतोकै कृतियों में नट्टिणै सबसे प्राचीन मानी गई है। इसमें तिरुमाल (विष्णु) का वर्णन मिलता है। इसमें तिरुमाल की महत्ता और उनके रंग की तुलना पर्वत से की गई है। इसमें 'भारतम्' के रचयिता पेरुन्देवनार की एक कविता ऐंगुरुनूर आदि कविता-संग्रहों में भी मंगलाचरण लिखे हैं। पेरुन्देवनार ने शैव-वैष्णव-भेद से दूर रहकर धार्मिक सहिष्णुता का परिचय दिया है। अन्य कविता-संग्रहों में जहां उन्होंने शिव और मुरुगन की स्तुति की है, वहां उन्होंने 'नट्टिणै' में तिरुमाल की स्तुति की है।

इस कविता में कवि ने 'तिरुमाल' के विश्वरूप के दर्शन कराए हैं। इनका विश्वरूप वर्णन सात पंक्तियों में है। कवि ने समस्त विश्व को तिरुमालमय (विष्णुमय) देखा है। इस विश्व-तल को तिरुमाल के चरणों के रूप में समुद्र को तिरुमाल के वस्त्र के रूप में, दिशाओं को करों के रूप में, सूर्य-चन्द्र को तिरुमाल के दो नयनों के रूप में कवि ने देखा है। इस प्रकार समस्त विश्व में तिरुमाल की आभा को कवि ने व्याप्त पाया है। कवि के लिए विश्व ही तिरुमाल है, तिरुमाल ही विश्व है। 'नट्टिणै' की यह मंगलाचरण कविता उस काव्य-मन्दिर के द्वार के रूप में दीख पड़ती है।

'नट्टिणै' में मंगलाचरण के अतिरिक्त एक सौ पचहत्तर कवियों की चार-सौ कविताएं संगृहीत हैं। इन विभिन्न कवियों के नाम ज्ञात नहीं हैं। इन कविताओं की रचनाओं में आठ स्त्रियां भी थीं। कपिलर तथा उल्लोचनार नामक दो कवियों की कविताएं इस संग्रह में सर्वाधिक संख्या में हैं। इसकी एक कविता में किसी एक कवि ने प्रकृति के सौंदर्य में ही तिरुमाल के दर्शन किए हैं। काले रंगीन पर्वत को और उससे कलकल-निनाद करके बहने वाली निर्मल निर्झरिणी को देखकर कवि को तिरुमाल (और उसके भाई बलराम) का स्मरण हो आता है। संघकालीन कवियों ने प्रकृति में ही तिरुमाल को देखा है। काया-पुष्प (पुष्प विशेष) में, नील गगन में, नील लहर वाले समुद्र में, कौए के रंग में सर्वत्र कवि

---

१. 'एट्टुतोकै' और 'पत्तुपाट्टु' में सम्मिलित काव्यों के नाम पहले दिए गए हैं। 'पदिनेण कील 'कणक्कु' संग्रह में सम्मिलित काव्य इस प्रकार हैं : 'तिरुक्कुरल', 'तिरिकटुकम्', 'नान्मणिक्कटिक', 'शिरुपंचमूलम', 'नालडियार', 'कारनार्पदु', 'कलवलि', 'नार्पदु', 'इनियवै', 'नार्पदु', 'इन्ना नार्पदु', 'ऐंतिणै, पलमोली', 'मुदुमोली', 'काची', आदि अठारह लघु काव्य।

को विष्णु की व्याप्ति का परिचय मिलता है। कवि ने समस्त विश्व को विष्णु-मय देखा है।[१] नट्टिट्ट्रिणै के अध्ययन से पता चलता है कि तत्कालीन जनता तिरुमाल (विष्णु) की महत्ता, महिमा और तिरुमाल से सम्बन्धित कथाओं से पूर्णतः परिचित थी।

पदिट्टुपत्तु

पदिट्टुपत्तु के रचयिता काप्पियट्टु काप्पियनार ने अपने आश्रयदाता नार-मुडिचेरल नामक चेर राजा को विष्णु-भक्त कहा है। इसमें कहा गया है कि उक्त चेर राजा ने उस तिरुमाल (विष्णु) की उपासना में अपनी प्रजा को लगाया था, जिस तिरुमाल ने वाराह अवतार लेकर समस्त पृथ्वी की रक्षा भी की। इसमें उल्लेख है कि तिरुमाल-भक्त, शीतल जल में स्नान कर, निराहार व्रत रखकर तिरुमाल के मन्दिर में प्रवेश करते थे और तिरुमाल की महिमा गाकर, तुलसी मालाधारी तिरुमाल के चरण कमलों पर पुष्पांजलि अर्पित कर आनन्द से नृत्य करते थे। विद्वानों का अभिप्राय है कि इसमें जिस मन्दिर का उल्लेख है वह तिरु-अनन्तपुरम् (स्यानन्दूरपुरी) में स्थित शेषशायी विष्णु का है।[२]

कपिलर नामक प्रसिद्ध कवि ने लिखा है कि चेल्वकडुगो नामक राजा ने तिरुमाल के प्रति अपनी अपार भक्ति के उपलक्ष्य में उनकी पूजा की व्यवस्था के लिए ओहन्दूर नामक गाँव का राजस्व शाश्वत रूप में दे रखा था। इससे ज्ञात होता है कि तमिलप्रदेश के चेर-राज्य में तिरुमाल-उपासना बहुत प्राचीन काल से प्रचलित थी।

नक्कीर नामक कवि ने 'पुरनाहु' की एक कविता में बलराम का वर्णन करते हुए लिखा है कि समुद्र में उत्पन्न धवल रंगीन शंख के समान उनकी देह की कान्ति है और उनके ध्वज पर ताड़ वृक्ष का चिह्न अंकित है।[३] आगे कवि ने बलराम के अनुज कण्णन को, जिनका तन नीलमणि की आभा से युक्त है और जिनका गरुडध्वज महान् विजय का द्योतक है, समस्त विश्व की सारी शक्ति और ख्याति का निधान कहा है।[४]

मारोक्कत्तु नप्पसलैयार नामक कवि ने कण्णन (कृष्ण) की एक ऐसी कथा का उल्लेख किया है जो अन्य ग्रंथों में नहीं मिलती। सुर और असुरों के बीच जब युद्ध हुआ तो दिन को भी अंधकारयुक्त बनाने के लिए असुरों ने सूर्य को छिपा दिया। सूर्य का प्रकाश न पाकर सारी पृथ्वी अन्धकार से आच्छादित हो गई और मनुष्य भयभीत हो गए। उस समय नील वर्ण देहधारी कण्णन ('विष्णु' का तमिल नाम) ने मनुष्यों के दुःख निवारणार्थ सूर्य को लाकर आकाश में खड़ा कर दिया। इससे ज्ञात होता है कि इस कवि के समय में यह कथा प्रचलित हुई

१ 'तमिलुम वैणवमुमम, एम० राघाइय्य पिल्लै, पृ० ६
२ वही, पृ० ८
३. 'पुरम्', ५६-३-४
४. वही, ५७-१-३

थी।[1] प्रलयकाल में जल-प्लावन के समय विष्णु के वट-पत्र पर शयन करने की कथा भी वर्णित है।[2]

परिपाड्‌ल

संघकालीन कृतियों में 'परिपाडल' एक ऐसा ग्रन्थ है जिसका महत्त्व तमिल प्रदेश की वैष्णव भक्ति-परम्परा में अत्यधिक है। इस ग्रंथ ने परवर्ती बहुत से तमिल वैष्णव भक्त-कवियों को विशेषतया आलवार भक्तों को प्रभावित किया है। अतः इस एक कृति का विस्तृत अध्ययन यहां अपेक्षित है।

परिपाडल के रचना-काल के विषय में अधिकांश विद्वानों का मत है कि यह ईसा की दूसरी शताब्दी की कृति है।[3] प्रसिद्ध तमिल विद्वान् मरैमलै अडिकल ने अनेक प्रमाण देकर यह स्पष्ट किया है कि 'परिपाडल' निश्चित रूप से ईसा की तीसरी शताब्दी से पहले की है।[4] परिपाडल के रचनाकाल में तिरुमालिरीचोलै मलै में तिरुमाल (विष्णु) की उपासना कृष्ण और बलदेव के युगल रूप में होती थी और वे शब्द और अर्थ के समान अभिन्न माने जाते थे।[5] ऐसा जान पड़ता है कि संघ और पूर्व-संघकाल में बलदेव की उपासना होती थी और उनके लिए मन्दिर भी निर्मित थे। परन्तु परवर्ती काल में 'तिरुमालिरीचोलै मलै' के मन्दिर के इतिहास में बलदेव की उपासना का उल्लेख नहीं मिलता।[6] तिरुमालिरींचोलै-मलै की कीर्ति का संकेत करने वाले आलवार भक्तों के गीतों में भी बलदेव का उल्लेख नहीं मिलता। उपर्युक्त प्रमाणों के आधार पर यह माना जा सकता है कि परिपाडल आलवारों के पूर्व की रचना है और उसका रचना-काल ईसा की दूसरी शताब्दी है।

'परिपाडल' में संकलित कुछ कविताएं विष्णु की स्तुति में रची गई है। 'पाडल' शब्द से तात्पर्य 'गीत' है। कदाचित् इस संग्रह में संगृहीत कविताएं उस समय गीत-रूप में गाई जाती थी। परिपाडल कविता-संग्रह में संगृहीत ७० कविताओं में से तिरुमाल (विष्णु) से सम्बन्धित ८ कही गई हैं, जिनमें केवल ७ ही अब उपलब्ध हैं। परिपाडल में अब उपलब्ध विष्णु सम्बन्धी लम्बे स्तुति-गीतों के रचयिता चार कवियों के नाम इस प्रकार हैं :

१. इलमपेवरुलुदियार
२. कडुवन इलवेयिनार

---

१ वही, १७४-१-५

२. वही, १६१-१

३. श्री के० एस० श्रीनिवास पिल्लै, डा० एस० कृष्ण स्वामी अय्यंगार, डा० एम० वरदराजनार डा० राजमाणिक्कनार आदि विद्वानों ने 'पत्तुपाट्टु' और 'एट्टुतोकै' संघ कृतियों का काल ईसा की दूसरी शताब्दी माना है।

४. माणिक्कवाचकर कालमुम करलाश्म—खण्ड १ मरैमलै अडिकल, पृ० २२६

५. परिपाडल, १५ : ११-१४

६. स्थल पुराण, तिरुमालिरींचोलै मलै पृ० ८३

को विष्णु की व्याप्ति का परिचय मिलता है। कवि ने समस्त विश्व को विष्णुमय देखा है।[1] भट्टिर्णे के अध्ययन से पता चलता है कि तत्कालीन जनता तिरुमाल (विष्णु) की महत्ता, महिमा और तिरुमाल से सम्बन्धित कथाओं से पूर्णतः परिचित थी।

पदिट्टुपत्तु

पदिट्टुपत्तु के रचयिता काप्पियट्टु काप्पियनार ने अपने आश्रयदाता नारमुडिचेरल नामक चेर राजा को विष्णु-भक्त कहा है। इसमें कहा गया है कि उक्त चेर राजा ने उस तिरुमाल (विष्णु) की उपासना में अपनी प्रजा को लगाया था, जिस तिरुमाल ने वाराह अवतार लेकर समस्त पृथ्वी की रक्षा भी की। इसमें उल्लेख है कि तिरुमाल-भक्त, शीतल जल में स्नान कर, निराहार व्रत रखकर तिरुमाल के मन्दिर में प्रवेश करते थे और तिरुमाल की महिमा गाकर, तुलसी मालाधारी तिरुमाल के चरण कमलों पर पुष्पांजलि अर्पित कर आनन्द से नृत्य करते थे। विद्वानों का अभिप्राय है कि इसमें जिस मन्दिर का उल्लेख है वह तिरुवनन्तपुरम् (श्यानन्दूरपुरी) में स्थित शेषशायी विष्णु का है।[2]

कपिलर नामक प्रसिद्ध कवि ने लिखा है कि चेल्वकडुंगो नामक राजा ने तिरुमाल के प्रति अपनी अपार भक्ति के उपलक्ष्य में उनकी पूजा की व्यवस्था के लिए ओहन्दूर नामक गाँव का राजस्व शाश्वत रूप में दे रखा था। इससे ज्ञात होता है कि तमिलप्रदेश के चेर-राज्य में तिरुमाल-उपासना बहुत प्राचीन काल से प्रचलित थी।

नक्कीर नामक कवि ने 'पुरनाॅ' की एक कविता में बलराम का वर्णन करते हुए लिखा है कि समुद्र में उत्पन्न धवल रंगीन शंख के समान उनकी देह की कांति है और उनके ध्वज पर ताड़ वृक्ष का चिह्न अंकित है।[3] आगे कवि ने बलराम के अनुज कण्णन को, जिनका तन नीलमणि की आभा से युक्त है और जिनका गरुड़ध्वज महान् विजय का द्योतक है, समस्त विश्व की सारी शक्ति और ख्याति का निधान कहा है।[4]

मारोक्कत्तु नप्पसलैयार नामक कवि ने कण्णन (कृष्ण) की एक ऐसी कथा का उल्लेख किया है जो अन्य ग्रंथों में नहीं मिलती। सुर और असुरों के बीच जब युद्ध हुआ तो दिन को भी अंधकारयुक्त बनाने के लिए असुरों ने सूर्य को छिपा दिया। सूर्य का प्रकाश न पाकर सारी पृथ्वी अन्धकार से आच्छादित हो गई और मनुष्य भयभीत हो गए। उस समय नील वर्ण देहधारी कण्णन ('विष्णु' का तमिल नाम) ने मनुष्यों के दुःख निवारणार्थ सूर्य को लाकर आकाश में खड़ा कर दिया। इससे ज्ञात होता है कि इस कवि के समय में यह कथा प्रचलित हुई

१ 'तमिलुम वैणवमुम्, एम० राधाकृष्ण पिल्लै, पृ० ६
२ वही, पृ० ८
३ 'पुरम्', ५६-३-४
४. वही, ५७-१-३

थी।[1] प्रलयकाल में जल-प्लावन के समय विष्णु के वट-पत्र पर शयन करने की कथा भी वर्णित है।[2]

परिपाडल

संघकालीन कृतियों में 'परिपाडल' एक ऐसा ग्रन्थ है जिसका महत्त्व तमिल प्रदेश की वैष्णव भक्ति-परम्परा में अत्यधिक है। इस ग्रंथ ने परवर्ती बहुत से तमिल वैष्णव भक्त-कवियों को विशेषतया आलवार भक्तों को प्रभावित किया है। अतः इस एक कृति का विस्तृत अध्ययन यहां अपेक्षित है।

परिपाडल के रचना-काल के विषय में अधिकांश विद्वानों का मत है कि यह ईसा की दूसरी शताब्दी की कृति है।[3] प्रसिद्ध तमिल विद्वान् मरैमलै अडिकल ने अनेक प्रमाण देकर यह स्पष्ट किया है कि 'परिपाडल' निश्चित रूप से ईसा की तीसरी शताब्दी से पहले की है।[4] परिपाडल के रचनाकाल में तिरुमालिरीचोलै मलै में तिरुमाल (विष्णु) की उपासना कृष्ण और बलदेव के युगल रूप में होती थी और वे शब्द और अर्थ के समान अभिन्न माने जाते थे।[5] ऐसा जान पड़ता है कि संघ और पूर्व-संघकाल में बलदेव की उपासना होती थी और उनके लिए मन्दिर भी निर्मित थे। परन्तु परवर्ती काल में 'तिरुमालिरीचोलै मलै' के मन्दिर के इतिहास में बलदेव की उपासना का उल्लेख नहीं मिलता।[6] तिरुमालिरीचोलै-मलै की कीर्ति का संकेत करने वाले आलवार भक्तों के गीतों में भी बलदेव का उल्लेख नहीं मिलता। उपर्युक्त प्रमाणों के आधार पर यह माना जा सकता है कि परिपाडल आलवारों के पूर्व की रचना है और उसका रचना-काल ईसा की दूसरी शताब्दी है।

'परिपाडल' में संकलित कुछ कविताएं विष्णु की स्तुति में रची गई हैं। 'पाडल' शब्द से तात्पर्य 'गीत' है। कदाचित् इस संग्रह में संगृहीत कविताएं उस समय गीत-रूप में गाई जाती थीं। परिपाडल कविता-संग्रह में संगृहीत ७० कविताओं में से तिरुमाल (विष्णु) से सम्बन्धित ८ कही गई हैं, जिनमें केवल ७ ही अब उपलब्ध हैं। परिपाडल में अब उपलब्ध विष्णु सम्बन्धी लम्बे स्तुति-गीतों के रचयिता चार कवियों के नाम इस प्रकार हैं:

१. इलम्पेरुवलुदियार
२. कडुवन इलवेयिनार

---

१. वही, १७४-१-५
२. वही, १६१-१
३. श्री के० एस० श्रीनिवास पिल्लै, डा० एम० कृष्ण स्वामी अय्यंगार, डा० एम० वरदराजनार डा० राजमाणिक्कनार आदि विद्वानों ने 'पत्तुपाट्टु' और 'एट्टुतोकै' संघ कृतियों का काल ईसा की दूसरी शताब्दी माना है।
४. माणिक्कवाचकर कालमुम वरलाक्रम—खण्ड १ मरैमलै अडिकल, पृ० २२६
५. परिपाडल, १५ : ११-१४
६. स्थल पुराण, तिरुमालिरीचोलै मलै पृ० ८३

३. कीरान्तैयार, और
४. नेल्ललुनियार।

उपर्युक्त कवियों ने विष्णु के विभिन्न अवतारो की ओर सकेत किया है। कडुवन इलवेयिनार विष्णु के ५ अवतारो का उल्लेख करते हैं।

१. वराह[1] २. वामन[1] ३. कृष्ण[1] (कण्णन) ४. नृसिंह[1] और
५. बलदेव[1]।

ब्रह्मा की उत्पत्ति तिरुमाल की नाभि-कमल से मानी गई है।[2] कहा गया है कि आग मे गर्मी, कुसुम मे सुगन्ध, मणि-रत्न मे ज्योति, सूर्य मे प्रकाश और चांदनी मे शीतलता की तरह ये (तिरुमाल) इन सब के सार स्वरूप हैं। प्रकृति के कण-कण मे इस प्रकार परब्रह्म का आरोप बहुत ही आकर्षक है।[3] इन कवियो ने विष्णु के विविध अवतारो का उल्लेख कर उनके विविध रूपों का वर्णन विस्तार से किया है, जिसका सक्षिप्त परिचय यहा दिया जाता है :

"सहस्र फणी शेषनाग विष्णु के सिर की रक्षा करता है। उनके सिर का किरीट सूर्य प्रकाश से ज्योतिर्मय नील रगीन पर्वत के समान है। उनके शरीर का वर्ण नील रगीन समुद्र या नील कमल या श्याम वर्ण के मेघ का-सा है।"

सभी कवियो ने विष्णु के नेत्रों को 'कमल, दल-लोचन ही कहा है। नेल्ल-लुनियार ने विष्णु के चरण, हाथ, मुह और नेत्र सबकी तुलना कमल-दल से की है।[6] सभी कवियो ने लिखा है कि विष्णु की छाती पर 'तिरुमकल' (लक्ष्मी) शोभायमान हैं।[8] विष्णु के चरणारविन्दो की स्तुति तो सभी कवियो ने की है। कहा गया है कि त्रिकाल (भूत, वर्तमान और भविष्य) की उत्पत्ति उनके चरणो से ही है।[10] उनके चरणो की वन्दना करने वाले सदैव सच्चे मार्ग पर ही चलेंगे।[11]

---

१. परिपाडल, ४ · २२-२४
२. वही, ४ १०-२१
३. वही, ३ . ३-२०
४. वही, ३ . ३१ व ३ ८३
५. वही, ४ . ३८-४०
६. वही, ३ . ११-१३
७. *Treatment of nature in Saugam Litrateure*— Dr. M. Varadarajnar, pp. 410
८ 'परिपाडल', १३। ५०-५१
९ साधारणतया विष्णु का अनुग्रह प्राप्त करने के लिए उनके चरणारविन्दो की वन्दना की जाती है। पर 'परिपाडल' मे विष्णु की छाती की वन्दना भी है। इसका कारण यह बताया गया है कि 'तिरुमकल' (लक्ष्मी) की कृपा (जो विष्णु की छाती पर शोभायमान है) प्राप्त करने पर ही 'तिरुमल' की कृपा प्राप्त हो सकती है। उस समय के वैष्णवो की यही धारणा थी। कट्टुरैकोवै पृ० ३५
१० 'परिपाडल' १३ . ४६-४७
११ वही, १३ · ४८

विष्णु के गले में तुलसी-माला शोभायमान है।[1] विष्णु की पताका गरुड़-ध्वज है और उनके पांच आयुधों में चक्र प्रमुख है।[2]

परिपाडल में तीन प्रमुख वैष्णव मन्दिरों का उल्लेख मिलता है—इरुन्तैयूर, कुलवैय और तिरुमालिरीचोलै पाले। ये तीनों पर्वत पर ही स्थित हैं, जो कि तमिल देवता तिरुमाल (मायोन) की कल्पना के अनुकूल है। इरुन्तैयूर मदुरै नगर के समीप वैगै नदी के निकट एक वैष्णव तीर्थ स्थान है। विद्वानों के अनुसार यह 'आलकर कोयिल' ही है।[3] तिरुमालिरीचोलै मलै और कुलवेद थय भी प्रमुख वैष्णव केन्द्र हैं।

परिपाडल से ज्ञात होता है कि ये कवि विष्णु के पांच रूपों—परब्रह्म रूप, व्यूह रूप, विभव रूप, अन्तर्यामी रूप और अर्चावतार रूप से भली-भांति परिचित थे।[4] परिपाडल युग मे पांचरात्र-आगमों पूर्व का रूप परिलक्षित होता है। बहुत संभव है कि 'परिपाडल' से ही पांचरात्र साहित्य को आधारभूमि मिली हो। इतना तो निश्चित है कि परिपाडल युग में तमिल लोगों को पाचरात्रों की रूप रेखा मिल गई थी।[5]

चूंकि तमिलप्रदेश की भक्ति-परंपरा में वैष्णव भक्ति के विकास-क्रम को भली भांति समझने के लिए परिपाडल का विशिष्ट अध्ययन अपेक्षित है, अतः हम यहां परिपाडल के पांच स्तुति-गीतों का भावानुवाद प्रस्तुत करना अपेक्षित समझते हैं :

विष्णु स्तुति-गीत : १

"हे विष्णु ! सहस्रफणी शेषनाग तुम्हारे मस्तक पर अलंकृत है। लक्ष्मी तुम्हारी छाती पर आसीन है। स्वच्छ शंख के तुल्य शरीर, गजयुक्त पताका, हलायुध और मुरली को धारण किए तुम बलदेव के तुल्य हो।

"कमल के समान शरीर, नीलोत्पल के समान नेत्र, लक्ष्मी के निवास-योग्य वक्षस्थल और उसमें शोभायमान कौस्तुभमणि तथा पीताम्बर को तुम धारण करते हो। गरुड़ की पताका में धारण करने वाले, तुम्हारी महिमा गाने मे वेद भी अवाक् हैं।

"युद्धलोलुपों को ध्वस्त करने वाले हे विजयशील ! तुम काम और ब्रह्मा के जनक हो। हे सर्वाभरणभूषित ! तुम्हारी महिमा को समझने मे मन्त्रद्रष्टा ऋषिगण भी असमर्थ हैं। अतः तुम्हारी अनिर्वचनीय गुण-गरिमा का वर्णन हम कैसे कर सकेंगे ?

---

१. परिपाडल, ४; १८ इसी कारण से ही वैष्णव भक्त तुलसी के प्रति श्रद्धा रखते हैं—*History of the Tamils*, P. T. Srinivasa Iyengar, pp. 76

२. 'परिपाडल' २ : ४९

३ 'तमिलूम वैणवमुम', एम० रायाकृष्ण पिल्ले, पृ०२६

४. *History of Tamil Litrature*, E.S. Varadaraja Iyengar, pp. 229-230

५. *History of Tirupati*. Vol. I. pp. 199
Dr. S Krishnaswamy Iyengar

स्तुति-गीत : ३

"हे भगवान् ! भक्तों की जरा-मरण व्याधि का निवारण तुम्हारे चरणामृत से होता है। तुम्हारी शरीर-कान्ति उज्ज्वल नीलमणि के तुल्य है। पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, आकाश, सूर्य, चन्द्र, यजमान, मंगलादि ग्रह, असुर, द्वादश आदित्य, आठ वसु, ग्यारह रुद्र, अश्विनी कुमार, यम तथा यम के अनुचर, सत्ताईस लोक और इन लोकों के निवासियों का आदिकारण तुम्हीं हो। वेद तुम्हारी महिमा इसी प्रकार गाते हैं, अतः हम भी वैसे ही कहते हैं। कमलोद्भव ब्रह्मा और उनके पिता तुम ही हो। तुम्हारे चरणों की पूजा न करने वाला कोई नहीं है। तुम सप्त लोकों को नापने वाले हो। सृष्टिकाल में वराहावतार लेकर जलान्तरगत भूदेवी को तुमने दाढ़ों से उठाया है। मेघ की वर्षा के कारण गिरने वाले पानी को तुमने हंस का रूप धारणकर अपने परों से रोका। इससे देव और मुनिगण तुम्हारा यशोगान करते हैं। पूर्वजों का अनुकरण करते हुए हम भी तुम्हारी स्तुति करते हैं।

"तुम्हीं वेदकर्ता हो। आगम, मन, चित्त और अहंकार से तुम जाने नहीं जाते हो। शशिकला के उपभोक्ता देवाधिदेव तुम ही हो। तुम्हारे स्वरूप का गान सामवेद इस प्रकार करता है कि अग्नि में ज्वाला, सुमन में सौरभ, पाषाण में मणि, वाणी में ओज, वेदों में उपनिषद्, पंचभूतों में आकाश, सूर्य में उष्ण और चन्द्र में शैत्य तुम हो। सभी वस्तुओं में तुम्हीं व्यापक हो। तुम सर्वगामी होने से सदा सर्वत्र रहते हो। लोककल्याणार्थ तुमने सभी प्रकार के जन्म लिए हैं। किन्तु तुम्हारा जन्मदाता कोई नहीं है।

"पंचभूत, पंच कर्मेन्द्रिय, पंच ज्ञानेन्द्रिय, पंच तन्मात्राएं, मन, चित्त, अन्तःकरण, मूल प्रकृति और पुरुष इन पच्चीस तत्वों को चारों युगों में अनुसंधान करने का श्रेय तुम्हीं को प्राप्त है।"

"लोहिताक्ष वासुदेव ! श्यामाक्ष संकर्षण ! सुवर्णकाय प्रद्युम्न ! हरितदेही अनिरुद्ध ! गोपवधुओं के साथ रास-क्रीड़ा करते समय तुम बारंबारदाएं-बाएं होते रहे। घट-नृत्य के समय तुमने घट उठा लिया। हे हलायुध ! तुम चक्रवर्ती हो और सबका रक्षण तुम्हीं करते हो। किन्तु हम लोगों के लिए तुम अज्ञात तत्व बने हुए हो। तुम भक्तों के हृदय में सदा निवास करते हो। तुम सनातन पुरुष हो, विराट् हो, क्रान्तदर्शी कवि हो, गायक शिखामणि हो, वनमालाधारी हो और शंख और पीताम्बरधारी लक्ष्मीपति हो। हे चक्रधर ! तुम्हारे चक्र की छाया में संसार सुखी है। तुम्हारा करुणा-कटाक्ष हमें प्राप्त हो।"

स्तुति गीत : ४

"हे विष्णु ! माया से पृथक् होकर, मैत्री-करुणा, मुदिता और उपेक्षा का सतत अभ्यास करनेवाले यम-नियमादि अष्टांगयोग के अनुयायी ऋषियों ने तुम्हारी महिमा की विशद व्याख्या की है। यह कोई विस्मय की बात नहीं है

कि तुम्हारी महिमा अनन्त है। योगाभ्यास से पराङ्मुख हम लोग मनमाना और त्रुटिपूर्ण ढंग से तुम्हारा यशोगान करते हैं। हमारी अज्ञानता और अकुशलता देखकर तुम्हारा हंसना उचित है। लेकिन तुम्हारे उपहास से निरुत्साहित होकर तुम्हारी भक्ति के मार्ग से हम हटेंगे नहीं। तुम्हारे शरीर की शोभा नील वर्ण, निस्तरंग सागर और जलधर मेघ के तुल्य है। श्यामवर्ण के तुम सुवर्ण के वस्त्र-परिधान से बहुत ही शोभित होते हो।

"तुम निसर्गतः लोहित नेत्रवाले हो, आर्त प्रह्लाद के आह्वान पर तुमने खंभे से प्रकट होकर हिरण्य के वक्षस्थल को विदीर्ण किया। जलमग्न भूमि को ऊपर लाने का तुम्हारा कृत्य मेरु पर्वत के समान है। तुम्हारा उष्ण और प्रकाश सूर्य के, शीत और कोमलता चन्द्र के, करुणा और दानशीलता मेघ के, रूप और नाम आकाश के, गमनागमन वायु के पास देखे जाते हैं। अतः गोचरभूत समस्त गुणों और क्रियाओं का केन्द्र तुम्हीं हो। प्राकृतिक सूर्यादि शक्तियां सृष्टिकाल में तुम्हीं से अभिव्यक्त होती हैं और प्रलयकाल में तुममें ही विलीन हो जाती हैं।

"क्रोध, करुणा, पक्षपात और तटस्थता आदि गुणों के धारण करने वालों के साथ तुम्हारा अनुरूप व्यवहार होता है। तुम स्वय तटस्थ हो। तुम्हारा न कोई मित्र है न शत्रु। जीवों के शत्रु-मित्र गुणो के कारण ही तुममें शत्रु-मित्र भावना प्रतीत होती है। यह तुम्हारा सहज भाव नहीं है। भक्तो के हृदय में भासित रूप ही तुम्हारा यथार्थ रूप है। नीलमणि के तुल्य सुरभित तुलसीमाला, सुवर्णवर्ण का श्रीवत्स और नीलोत्पलवत् नेत्रों को धारण किए तुम अतीव मनोज्ञ मालूम होते हो। तुम्हारी महिमा असीम है।

"तुम्हारे मोक्षधाम से भी श्रेष्ठ तुम्हारा चरणारविन्द है। ऐश्वर्य भाव से पूर्ण तुम अनेक नैसर्गिक कल्याण-गुणो को धारण किए हुए हो। हम तुम्हारे यथार्थ गुणों को नहीं जानते।

"वट और कदम्ब वृक्ष, नदी और पर्वत आदि स्थानों में विभिन्न रूपो में विद्यमान अनेक नामधारी तुम हो। तुम सर्वत्र व्याप्त हो। भक्तो के भक्तिपूर्ण सम्पुटकरों में तुम शान्त रूप से आसीन हो। हमें भक्ति में प्रेरित कर हमारे सुहृदयों की रक्षा तुम्हीं करते हो। हम पर करुणा करो।"

स्तुति गीत : ५

"रमणीय पीताम्बर, मणिमण्डित किरीट, सुरभित माला, गरुडयुक्त पताका और चन्द्र की दानशीलता को धारण किए हुए तुम्हारी शोभा निरुपम है। सूर्य और चन्द्र को दोनो ओर धारण करने वाले मेघ के समान शंख और चक्र को धारण करने वाले तुम्हारे पाणिपद्म सहित वक्षस्थल की वन्दना करने वाले भक्त को वैकुण्ठ प्राप्त होता है। रसना आदि इन्द्रिय तुम हो। शब्द-स्पर्शादि के उपभोक्ता भी तुम ही हो। शब्द से ज्ञात आकाश, शब्द-स्पर्श से ज्ञात वायु, शब्द-स्पर्श-रूप से ज्ञात तेज, और शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध से ज्ञात पृथ्वी तुम हो। अतः मूल प्रकृति, धर्म, अनादिकाल, आकाश, वायु और तेज से युक्त तीनों सप्त-

लोक के प्राणी तुम्हारे उदर में हैं। तुम क्षीरसागर के मध्य सहस्रफणि आदिशेष पर दीर्घ निद्रा करने वाले हो। ऋतु का उल्लंघन करने वाले दुश्मनों का प्राणापहरण कर उनके वक्षस्थल पर हल चलाते हो। वेद तुम्हारा यशोगान करते हैं। जलधर मेघ, नीलवर्ण सुमन, सागर, अंधकार और नीलमणि इन पांचों के समान तुम्हारी शरीर-कान्ति है। तुम्हारी वाणी शंख-ध्वनि और वेद-घोष के समान है। ग्रीष्मकालीन तुम्हारा उद्घोष मेघ-गर्जना के तुल्य है। तुम्हारा स्तुति-पाठक शाश्वत मुक्ति पाता है। तुम्हारा चित्त प्राणियों के परिपालन में ही रमता है। पूर्व जन्म-सुकृत के कारण इस जन्म में तुम्हारे कल्याणगुणों का हम चिन्तन करते हैं। उत्तरोत्तर अनवरत भक्ति करने की प्रेरणा देकर हमें तुम अनुगृहीत करो।"

परिपाडल के उपर्युक्त विष्णुपरक स्तुति-गीतों के अवलोकन से यह स्पष्ट होगा कि परवर्ती वैष्णव भक्ति-साहित्य पर उसका कितना प्रभाव पड़ा होगा। परिपाडल के बहुत-से विचारों का प्रभाव आलवार भक्तों पर पड़ा है जिनको हम वैष्णव भक्ति-आंदोलन के उन्नायक समझते हैं। आलवार कृत 'प्रबन्धम्' या 'परिपाडल' के प्रति बड़ा ऋण है।

कलितोकै

कलितोकै में बालकृष्ण की विभिन्न लीलाओं का वर्णन है। कंस के द्वारा भेजे गए केशी नामक घोड़े को मारने की कथा है। कवि चोलन नल्लिरुत्तिनार ने इस घटना को अपार वीरता के उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत किया है। द्रौपदी की करुण पुकार पर उपस्थित होकर उसके स्त्रीत्व की रक्षा कर दुःशासन के गर्व को भंग करने वाले कृष्ण (कन्नन) की महिमा गाई गई है।[1] समस्त विश्व को तीन पदों में नापने की विष्णु की कथा भी है। कलितोकै के अध्ययन से विदित होता है कि उस समय तिरुमाल-धर्म को राज्याश्रय भी प्राप्त था। इसमें पवित्र जीवन बिताने वाले वैष्णव संन्यासी लोगों का उल्लेख है जो प्रतिदिन पत्थर पर पीटकर धोए हुए काषाय वस्त्र पहना करते थे और जिनका नाम 'भगवर' या 'मुक्कोर भगवर' विख्यात था। धार्मिक विषयों में इनसे सलाह लेने की परिपाटी भी थी।

संघकालीन कविता-संग्रहों में दूसरा संग्रह 'पत्तुपाट्टु' है, जिसमें १० वर्णन-काव्यों का समावेश है। यह प्रथम संग्रह की अपेक्षा अधिक प्राचीन माना जाता है। इसमें संगृहीत कविताओं का काल ईसा की दूसरी शताब्दी से पूर्व पड़ता है।

इसमें 'पेरुनपाणाट्रुप्पडै' के रचयिता ने अपने आश्रयदाता को तिरुमाल वंशोत्पन्न कहा है।[2] इस कविता में कवि ने कांची नगर की प्राचीनता का वर्णन करते समय लिखा है कि कांची उस तरह प्राचीन और महिमायुक्त है, जिस तरह ब्रह्मदेव को धारण करने वाला तिरुमाल की नाभि से उदित कमल। इस कांची नगर के समीप तिरुवेहा में शेषशायी तिरुमाल के एक मन्दिर होने का भी उल्लेख है।

---

१. 'मुल्लैक्कली,' १, ८१-१२०
२. 'पेरुनपाणाट्रुप्पडै,' २६-३१

'मुल्लैपाट्टु' (अर्थात् 'वन-गीत') के रचयिता नप्पूदनार ने वामनावतार का स्मरण कर तिरुमाल की व्यापकता और श्यामलता की तुलना समुद्र-जल को ग्रहण कर उत्तप्त तथा ऊंचे आकाश में मडराने वाले काले मेघों से की है। यह कविता मुल्लै-प्रदेश के अधिदेवता 'मायोन' अथवा 'तिरुमाल' की स्तुति कर प्रारम्भ होती है। महाबली से तीन चरण की भूमि मांगकर तीनों लोकों को लांघने वाले तिरुमाल की कथा उस समय बहुत ही लोकप्रिय रही होगी। 'मदुरैकांची' में 'ओण विषा' का वर्णन है। कहा गया है कि महाबली के गर्व का दमन करने वाले तिरुमाल की महिमा गाने के लिए मदुरै नगर में 'ओण' उत्सव प्रतिवर्ष सात दिन तक बड़ी धूमधाम से मनाया जाता था।

संघकाल का तीसरा काव्य-संग्रह 'पदिनेणकीलकणक्कु' है। वस्तुतः यह अठारह सूक्ति-ग्रंथों का सामूहिक नाम है। विश्वविख्यात महाकवि तिरुवल्लुवर द्वारा रचित 'तिरुक्कुरल' इनमें प्रमुख है। तिरुवल्लुवर किस धर्म के अनुयायी थे, इसका निर्णय अभी तक नहीं किया जा सका है। इस ग्रंथ में जैन, बौद्ध, वैष्णव, शैव एवं ईसाई विद्वान् अपने-अपने धर्म के विचारों को पाकर यह प्रमाणित करने के निरन्तर प्रयत्न में सदियों से लगे हुए हैं कि तिरुवल्लुवर उसम् धर्मावलम्बी थे और उन्हीके धार्मिक सिद्धान्त 'तिरुक्कुरल' में प्रतिपादित किए गए हैं। यद्यपि इस महान् कवि ने अपने इष्टदेव के रूप में विष्णु या तिरुमाल का नाम स्पष्ट रूप से नहीं लिया है, तो भी उनके भगवान् के श्रेष्ठ गुणों के अनेक वर्णन तिरुमाल को लक्ष्य करके ही किए गए मालूम पड़ते हैं। श्रीमद्भगवद्गीता के अनेक विचार इसमें मिल जाते हैं। दो स्थानों में 'अडियलान्दान'[3] (लोक को नापने वाला) तथा 'दामरै कन्नन'[4] (कमल दल लोचन कन्नन) इन दो प्रयोगों से यही निष्कर्ष निकलता है कि कवि अपने समय में प्रचलित 'तिरुमाल' तत्त्व से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सका।

'पदिनेणकीलकणक्कु' में सम्मिलित 'तिरिकडुकम' नामक काव्य में तिरुमाल की अनेक लीलाओं में से तीन चरण से समस्त विश्व को लांघने, कुरुन्द पेड़ के रूप में उपस्थित राक्षस को मारने, शकट तोड़ने आदि लीलाओं का वर्णन है। इसके रचयिता नल्लादनार थे। इस ग्रंथ के मंगलाचरण से विदित होता है कि ये वैष्णव थे।

'नानमणिकडिकै' के रचयिता विलम्बीनागनार भी वैष्णव थे। इसमें मंगलाचरण के दो पद्य हैं जिनमें 'मायोन' अर्थात् 'कन्नन' की स्तुति है। कवि का कहना है कि चन्द्र 'मायोन' के मुख के समान है। किरण युक्त सूर्य तिरुमाल के चक्र के समान है। सुन्दर कमल के दल उनके नयनों के समान है। 'पूवै' के नवीन पुष्प

---

१ 'पेरुनपाणाट्रुपडै', ४०३-४०५
२. वही, ३७१-३७३
३ 'तिरुक्कुरल', दोहा ६१०
४ वही, ११०३

उनके शरीर के रंग के समान हैं।[1] इस प्रकार कवि ने उपमान को उपमेय से भी श्रेष्ठ बताया है। मंगलाचरण के द्वितीय पद्य में 'कन्नन' (कृष्ण) की अन्य कुछ लीलाओं का उल्लेख है।

'इनियदु नार्पदु' के रचयिता पूदंचेंदनार थे। इन्होंने भी कृष्ण की अनेक लीलाओं का उल्लेख किया है। विद्वानों के अनुसार ये भी वैष्णव थे।

संघोत्तरकाल (तीसरी और चौथी शताब्दी) में पांच श्रेष्ठ काव्यों का निर्माण हुआ जो 'पंच वृहद्' के नाम से प्रसिद्ध हैं। वे हैं—शिलप्पधिकारम्, मणिमेखलै, जीवक चिन्तामणि, वलयापति और कुण्डलकेशी। इन वृहत् काव्यों के अतिरिक्त इस काल में रचित पांच लघु काव्य भी विख्यात हैं। ये हैं—नीलकेशी, चूलामणि, यशोदरकाव्यम्, नागकुमारकाव्यम् तथा उदयमान कदै। 'शिलप्पधिकारम्' (नूपुर-काव्य) के रचयिता इलगो यद्यपि बौद्ध मुनि थे, तो भी उन्होंने अपने समय के अन्य प्रसिद्ध लोकप्रिय धर्मों के, विशेष रूप से तिरुमाल धर्म के विचारों का अच्छा परिचय दिया है। इस काव्य का नायक कोवलन अपनी धर्मपत्नी कण्णकी को मदुरै नगर के बाहर स्थित 'आयर' (ग्वालों) के ग्राम में छोड़ जाता है। मदुरै में जब निरपराध कोवलन की हत्या होती है, तो आयरों के उस ग्राम में अपशकुन दीख पड़ते हैं। इसपर आयर ग्वालिनें अपने इष्टदेव कन्नन (कृष्ण) से अमंगल दूर करने के लिए प्रार्थना कर 'कुरवै' नामक नृत्य करती हैं। यह प्रसंग 'आयिचयर कुरवै' नाम से प्रसिद्ध है। इस प्रसंग में ग्वालिनें गाती हैं : "मेरु की मथानी और वासुकी सर्प को रस्सी बनाकर, हे कन्नन! उस दिन तुमने समुद्र का मंथन कर डाला था। मथने वाले वे ही हाथ (बाद में) यशोदा की मथानी की रस्सी से बांधे गए। हे नृसिंह, हे भ्रान्तिरहित! यह तुम्हारी कैसी माया है?" 'कुरवै कूत्तु' की कथा उस समय के तमिल-समाज में सबसे अधिक प्रसिद्ध कथा मालूम पड़ती है, जिसमें कन्नन (कृष्ण) ने बलराम और नप्पिन्नै ('राधा' का तमिल नाम) के साथ 'कुरवै' नामक नृत्य किया था। कवि ने इस प्रसंग के वर्णन में ग्वालिनों के मुख से कुरवै नृत्य करते समय कन्नन की विभिन्न बाल-लीलाओं का गायन कराया है।

'शिलप्पधिकारम्' से ज्ञात होता है कि उस समय तिरुवेंकटम्, तिरुप्पति, तिरुमालिरुंचोलै आदि स्थानों में 'तिरुमाल' के मन्दिर वर्तमान थे और इन मन्दिरों में तिरुमाल की उपासना-प्रणाली भी थी। काविरिपूपट्टिनम में स्थित मन्दिरों की सूची देते समय कवि बलराम और कन्नन (कृष्ण) के अलग-अलग मन्दिर होने का भी उल्लेख करता है।[2] इस काव्य के अन्त में एक जगह कहा गया है कि राजा चेरन सेंगुट्टुवन वीर-पत्नी कण्णकी की प्रतिमा बनाने के निमित्त शिला लेने के लिए हिमगिरि गए। जाते समय 'आडकमाडकम' नामक स्थान में स्थित विष्णु-मन्दिर के उन्होंने दर्शन किए।

पंच वृहत्-काव्यों में दूसरा महान् काव्य है—'मणिमेखलै'। इसके रचयिता

१. 'तिरुमोहन' (जिल्द ३, संख्या ४), 'तिरुमाल वनिपाडु' लेख, श्री पी० श्री० आचार्य
२. 'शिलप्पधिकारम्', १७१-१७२

सीत्तलै चात्तनार (शत्तनार-प्रणी चात्तनार) थे। इस ग्रंथ के प्रणयन मे उनका उद्देश्य यद्यपि बौद्ध-धर्म के विचारो का प्रतिपादन ही था, तो भी उन्होंने वैष्णव धर्म के श्रेष्ठ विचारों की ओर भी प्रसंगवश संकेत किया है। इस काव्य में कण्णन (कृष्ण) की अनेक कथाओ का भी वर्णन आता है। कण्णन द्वारा नप्पिन्नै तथा बलराम सहित किए गए कुरवै नृत्य का भी उल्लेख कवि ने किया है।[1]

'चूलामणि' नामक जैन-काव्य मे उसके कथा-नायक से सम्बन्धित कुछ कथाएं 'कण्णन' से सम्बन्धित कथाओ से मिलती-जुलती हैं। ऐसा ज्ञात होता है कि चूंकि इस काल मे तिरुमाल-धर्म अधिक प्रचार को पा रहा था और जनता ने तिरुमाल के विभिन्न अवतारो की कथाओं को बड़े चाव से स्वीकार किया था, इसलिए इस काल के जैन-बौद्ध-काव्य मे भी उन कथाओ का रूपान्तर से समावेश यत्र-तत्र हुआ है।

तिरुमाल के कण्णन (कृष्ण) अवतार की भांति रामावतार की कथाएं भी तत्कालीन समाज मे प्रचलित थी। इसके प्रमाण संघ-साहित्य मे मिल जाते हैं। यद्यपि तमिल में सम्पूर्ण 'रामायण' की कथा को लेकर महाकाव्य रचने वाले 'कवि चक्रवर्ती' के नाम से प्रसिद्ध कंबन (११वी शती) थे, तो भी कुछ विद्वानों का मत है कि उससे पूर्व (कदाचित् संघकाल मे ही) 'वेण्बा' छन्द मे निर्मित एक रामायण-काव्य भी विद्यमान था।[2] प्रो० एस० वैयापुरि पिल्लै का कथन है—"बहुत ही प्राचीन काल मे इन रामायण-कथाओ का प्रचार समस्त तमिलप्रदेश मे हो चुका था। 'पुरनानूरु' तथा 'अहनानूरु' नामक संघकालीन कृतियो मे, जिनकी रचना ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियो मे हुई थी, रामायण की कथाओ का उल्लेख है। इसके पश्चात् 'वेण्बा छन्द' मे रचित एक सम्पूर्ण रामायण का भी प्रणयन हुआ था। इस प्रकार हम देखते हैं कि 'तिरुमाल' के रामावतार की कथाएं बहुत प्राचीन काल से ही तमिल-जनता को प्रभावित करती आई हैं। तमिलप्रदेश मे उत्पन्न तत्सम्बन्धी कथाएं भी मूल-कथा मे ली गई थी।[3]

'अहनानूरु' और 'नेडुन्तोकै' नामक संग्रहो मे 'रामायण' की कुछ कथाएं मिलती है। इसमे एक जगह कहा गया है कि रावण से युद्ध कर सीता को लिवा लाने के निमित्त जब राम पाण्ड्यदेश के दक्षिण कोने मे एक विशाल वट-वृक्ष के नीचे अपने दूसरे सहयोगियो के साथ विचार-विनिमय मे रत थे, तब उस वृक्ष पर निवास करने वाले अनेक पक्षी कलरव मे रत थे। इस कारण कुछ समय के लिए सभा के कार्यक्रम को चालू करने मे प्रतिरोध हो गया। उन पक्षियो के शान्त हो जाने पर वे पुनः विचार मे प्रवृत्त हुए।[4] (यह प्रसंग वाल्मीकीय रामायण में नही है।)

'पुरनानूरु' की एक कविता मे रामायण के एक प्रसंग की ओर संकेत है।

---

१ 'मणिमेखलै', १६, ६५-६६

२ 'कंबन कण्ड तमिलरम्', स्वामी चिदंबरनार, पृ० २०

३ 'कम्बन काव्यम्', प्रो० एस० वैयापुरि पिल्लै, पृ० १५२-१५३

४ 'अहनानूरु', ७०

एक बार एक कवि को एक राजा ने पुरस्कारस्वरूप बहुत-से मूल्यवान् आभूषण दिए। चूंकि कवि को यह मालूम नहीं था कि किस आभरण को कहां पहनना चाहिए, इसलिए उस कवि की तुलना उन वानरों से की गई जो रावण द्वारा अपहृत सीता के हाथ से फेंके गए आभूषणों को लेकर इस भ्रम में पड़े हुए थे कि उन्हें कहां पहनना चाहिए।[१]

'एट्टुतोकै' काव्य-संग्रह में सम्मिलित 'परिपाडल' में एक जगह कहा गया है कि 'तिरुपरकुंड्रम्' नामक स्थान में स्थित तिरुमाल-मन्दिर के चित्र-मण्डप में अहिल्याशाप-विमोचन का चित्र अंकित किया गया था और मन्दिर में आने वाले भक्त उसके दर्शन कर उसकी अत्यन्त प्रशंसा कर जाते थे।

'शिलप्पधिकारम्' नामक काव्य-ग्रंथ के 'आयचियर कुरवै' प्रसंग में यद्यपि 'कन्नन' (कृष्णावतार) की लीलाओं का विस्तार से वर्णन है, तथापि कवि ने रामावतार की ओर भी संकेत किया है। कवि का कहना है कि उस कान से क्या प्रयोजन है कि जिसने तिरुमाल के रामावतार की कथा न सुनी हो। आगे कवि कहता है कि तिरुमाल के चरण, जिन्होंने तीन लोकों को नापा था, वे ही रामावतार में वन-यात्रा के समय पीड़ित होकर रक्तिम हो गए।[२]

'मणिमेखलै' में रामावतार की कुछ कथाएं मिलती हैं। इसमें रावण के अन्यायपूर्ण कृत्य के लिए उसे दण्ड देने के निमित्त लंका में पहुंचने के लिए रामेश्वरम् में सेतु बनाते समय वानरों द्वारा बड़े-बड़े पत्थरों को लेकर जाने का वर्णन है।[३] एक अन्य जगह राम की जीत और रावण की पराजय का भी उल्लेख है।[४]

उपर्युक्त विवेचन से तात्पर्य यह है कि संघ-काल में ही (ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों में अथवा उसके कुछ पूर्व ही) तमिल प्रदेश में तिरुमाल (विष्णु) के विभिन्न अवतारों की कथाएं प्रचार पा चुकी थीं, साथ ही संघ साहित्य में हमें आलवार साहित्य की साहित्यिक पृष्ठभूमि देखने को मिल जाती है।

मन्दिरों में तिरुमाल की उपासना

तमिल प्रदेश के मन्दिरों का इतिहास बहुत ही प्राचीन है।[५] इन मन्दिरों में देवताओं की मूर्तियां रहती थीं और निश्चित प्रणाली के अनुसार उनकी उपासना भी होती थी। यद्यपि प्रारम्भ में तिरुमाल मुल्लै प्रदेश के अधिदेवता के रूप में ही माने गए थे, तो भी संघकाल में उनका प्रभाव अन्य भूभागों पर भी पड़ा। इनके मन्दिरों में तिरुवरंगम्, तिरुपति, तिरुमालिरुंचोलै, तिरुवेहा आदि स्थानों

---

१. 'पुरनानूरु', ३७८
२. 'शिलप्पधिकारम्' (मदुरैकाण्डम्), आयचियर, कुरवै, ३५
३. 'मणिमेखलै', १३-१०-४
४. वही, ५३-५४
५. *Origin of South Indian Temple*—Dr. Venkitarammya

कृष्ण-रूप महाभारत के कूटनीतिज्ञ और गीता के उपदेशक कृष्ण के रूप से बिलकुल भिन्न है। श्रीमद्भागवत के आधार पर परवर्ती साहित्य ग्रन्थों में कृष्ण का रूप, प्रेमभक्ति के आलम्बन के रूप में एवं गोप-गोपियों के सर्वस्व राधा-वल्लभ, नटनागर एवं गोपाल कृष्ण ही अधिक ग्राह्य हुए। आश्चर्य की बात है कि महाभारत के उपदेशक कृष्ण श्रीमद्भागवत में गोपाल कृष्ण के रूप में कितने भिन्न जान पड़ते हैं?

डा० भाण्डारकर का कहना है कि ईसा के पूर्व की पहली शताब्दी तक के किसी भी भागवत धर्म-सम्बन्धी प्रामाणिक ग्रन्थ में गोपाल कृष्ण की चर्चा नहीं है और न उनका कोई परिचय ही उपलब्ध होता है। इसके विरुद्ध ईसा के अनन्तर आने वाली शताब्दियों की ऐसी सामग्रियां गोपाल कृष्ण की अनेक कथाओं से भरी पड़ी हैं जिससे अनुमान किया जा सकता है कि उक्त दोनों समयों के बीच में कोई न कोई नवीन बात अवश्य हुई होगी।

ईसा के पूर्व के किसी संस्कृत ग्रन्थ में गोपाल कृष्ण का वर्णन न मिलने और ईसा के पश्चात् के ग्रन्थों में गोपाल कृष्ण की लीलाओं का विस्तारपूर्ण विवरण प्राप्त होना विद्वानों के बीच अनेक भ्रान्तियां एवं कल्पनाओं को जन्म देता आया है। पाश्चात्य विद्वान् जो हर चीज का सम्बन्ध योरप से मानते आये हैं, बाल कृष्ण की लीला सम्बन्धी कथाओं को ईसा मसीह की जीवन-कथा से प्रभावित मान बैठे हैं। डा० ग्रियर्सन ने लिखा है कि ईसा की दूसरी शताब्दी में ईसाइयों का एक दल सीरिया से आकर मद्रास के दक्षिण भाग में आबाद हो गया था। इन ईसाइयों की भक्ति-भावना का पूरा-पूरा प्रभाव हिन्दुओं पर पड़ा और क्राइस्ट से किस्टो और फिर कृष्ण उनका उपास्य बन गया। वैष्णवों की दास्य भक्ति, प्रसाद, पूतना-स्तन्य पान आदि को ग्रियर्सन महोदय ईसाइयत की देन बताते हैं। उनका कहना है कि पूतना बाइबिल का 'वर्जिन' है। प्रसाद लवफीस्ट है—इत्यादि। इस प्रकार वे ईसा के पश्चात् बाल कृष्ण की कथाओं का जन्म सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। वेबर और केण्डी का भी कथन है कि बाल कृष्ण की कथा ईसा मसीह की कथा का भारतीय रूप है।

कुछ भारतीय विद्वान् 'गोपाल कृष्ण' के रूप का अस्तित्व प्रारम्भ से सिद्ध करने के उद्देश्य से केवल 'गोपाल' शब्द का आधार लेकर गोपाल कृष्ण को प्राचीन ग्रन्थों में ढूंढते हैं और यह बताने की चेष्टा करते हैं कि गोपाल कृष्ण का रूप पहले से ही बीज रूप में विद्यमान था। वे कृष्ण के 'गोविन्द' नाम का सम्बन्ध 'गोपाल कृष्ण' से जोड़ते हैं। 'गोविन्द' एक पुराना नाम है और उसका उल्लेख श्रीमद्भागवत और महाभारत—दोनों में हुआ है। परन्तु महाभारत में 'गोविन्द' शब्द का सम्बन्ध 'गोपाल कृष्ण' से नहीं लगाया गया है। आदि पर्व में गोविन्द की व्याख्या इस प्रकार की गई है कि भगवान् का नाम 'गोविन्द' इसलिए है कि उन्होंने 'वाराहावतार' में 'गौ' अर्थात् 'पृथ्वी' की रक्षा की थी। शान्ति पर्व में भी इसी प्रकार की व्याख्या की गई है। डा० भाण्डारकर ने गोविन्द की उत्पत्ति गोविन्द से बताई है, जो ऋग्वेद में इन्द्र के विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है।

ऋग्वेद में हमे ऐसे मन्त्र[1] अवश्य मिलते हैं जिनमें गो, वृष्णि, राधा, व्रज, गोप, रोहिणी और अर्जुन आदि नाम आए है। परन्तु गोपाल कृष्ण से उनका कोई भी सम्बन्ध नही है।[2]

वाल कृष्ण के आविर्भाव के विषय मे भाण्डारकर आदि कुछ विद्वानों का मत है कि वाल कृष्ण की कथा सीरिया से चलकर आई हुई घुमक्कड़ आभीर जाति के वाल-देवता की कथा है। आभीरो के वाल-देवता श्रीकृष्ण की कथा का सबसे पुराना उल्लेख हरिवंश पुराण मे पाया जाता है। भाण्डारकर ने इस ग्रन्थ का काल तीसरी शताब्दी के अनन्तर माना है, क्योंकि उसमे 'दीनार' शब्द (लेटिन Denarious) का उल्लेख है।[3] भाण्डारकर के अनुसार आभीर ही सम्भवतः वाल-देवता की जन्म-कथा और पूजा अपने साथ ले आए। कुछ कथाए तो उनके द्वारा लाई गई थी और कुछ उनके भारत जाने के वाद विकसित हुई। भाण्डारकर आगे लिखते है कि यह सम्भव है कि वे अपने साथ क्राइस्ट नाम भी ले आए हो और सम्भवतः यही नाम वासुदेव कृष्ण के साथ भारतवर्ष मे वाल-देवता के एकीकरण का कारण हुआ हो।

महाभारत के 'मौशल पर्व' अध्याय ७ मे आभीरों के सम्बन्ध में एक कथा आती है जिसके अनुसार अर्जुन वृष्णि वंश के समाप्त हो जाने पर उस वंश की स्त्रियों को जब द्वारका से कुरुक्षेत्र ले जा रहे थे, तो आभीरो ने उनके ऊपर आक्रमण कर दिया। आभीर लुटेरे और म्लेच्छ वताए गए है जो पचनद देश मे रहते थे। विष्णु-पुराण मे आभीरो को कोंकण और सौराष्ट्र के निवासी बताया गया है। पहले तो आभीर चरवाहे थे फिर वे पचनद से मथुरा, सौराष्ट्र और काठियावाड़ तक फैल गए। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य विद्वान् अनेक ऐतिहासिक प्रमाणों के द्वारा अब यह सिद्ध कर चुके है कि आभीर जाति कही वाहर से नही आई थी और ईसा के पूर्व भी वह जाति भारतवर्ष मे विद्यमान थी। गोपाल कृष्ण तथा वाल कृष्ण वाली कथाओं का समावेश वासुदेव के साथ इन आभीरो द्वारा किया गया।

परन्तु प्रस्तुत लेखक को गोपाल कृष्ण की कथाओं की उत्पत्ति के विषय में वस्तुस्थिति ऊपर दिए गए विद्वानों के विभिन्न अनुमानो से भिन्न मालूम पड़ती है। तमिल-साहित्य के संघपूर्व काल की रचना तोलकाप्पियम (ईसा पूर्व पाचवी शताब्दी) और सघकाल की रचनाओं मे (ईसा की दूसरी शताब्दी तक) तमिलप्रदेश के पाच भिन्न भू-भागो और उनके अधिदेवताओ का विस्तृत वर्णन मिलता है। मुल्लै-प्रदेश (वन-भूमि) मे गोचारण के व्यवसाय मे संलग्न 'आयर' कहलाने वाले ग्वाला लोग रहते थे और उनके देवता 'मायोन'

---

१ (अ) ता वा वास्तून्युष्मसि गमध्यै। यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः।
अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः परमं पदमवभाति भूरि॥ 'ऋग्वेद', १।१५४।६
(ब) दासपत्नी अहिगोपा अतिष्ठत। 'ऋग्वेद', १। ३२।११
(स) त्वमेतदधारयः कृष्णासु रोहिणीषु। 'ऋग्वेद', ८।९३।१३

२ 'सूर और उनका साहित्य', डा० हरवंशलाल शर्मा, पृ० १२५

३ *Vaishnavism, Shaivism and other Minor Religious Sects.*
—Dr. R. G. Bhandarkar, p. 37